

दूरस्थ शिक्षा
स्व अनुदेश सामग्री

स्नातकोत्तर पूर्वार्द्ध – संस्कृत
चतुर्थ प्रश्नपत्र – दर्शन

- इकाई—1 तर्कभाषा (केशवमिश्रकृत) (प्रामाण्यवादपर्यन्त)
(व्याख्या एवं समीक्षात्मक प्रश्न)
- इकाई—2 सांख्यकारिका (ईश्वरकृष्णकृत)
(कारिकाओं की व्याख्या एवं समीक्षात्मक प्रश्न)
- इकाई—3 वेदान्तसार (सदानन्दकृत)
(व्याख्या एवं प्रश्न)
- इकाई—4 दर्शनों की तुलनात्मक समीक्षा
(प्रमाण, सृष्टिप्रक्रिया, गुणविवेचन, ब्रह्म एवं जीव का
स्वरूप, आत्मा का स्वरूप, कारण, मोक्ष की धारणा आदि)
- इकाई—5 नास्तिक दर्शन
(जैन, बौद्ध और चार्वाक दर्शन)

लेखिका

डॉ० (श्रीमती) सुधा गुप्ता
एसो०प्रोफेसर, संस्कृत—विभाग
जुहारी देवी गर्ल्स पी०जी० कॉलेज, कानपुर—04 (यू०पी०)
सम्बद्ध—छत्रपति शाहू जी महाराज विश्वविद्यालय, कानपुर
(2012—2013)

स्वयं अध्ययन सामग्री

पाठ्यक्रम	—	एम0ए0
वर्ष	—	पूर्वाद्ध
विषय	—	संस्कृत
प्रश्न पत्र	—	चतुर्थ
शीर्षक	—	दर्शन
इकाई	—	(1) तर्कभाषा (केशवमिश्रकृत) (प्रामाण्यवादपर्यन्त) (व्याख्या एवं समीक्षात्मक प्रश्न)
लेखिका	—	डॉ0 सुधा गुप्ता
सम्पादक	—	प्रो0 अशोक कुमार कालिया

मध्यप्रदेश भोज (मुक्त) विश्वविद्यालय, भोपाल

एम0ए0 (पूर्वाद्ध) संस्कृत चतुर्थ प्रश्नपत्र—दर्शन

इकाई (1) तर्कभाषा (प्रामाण्यवाद पर्यन्त) (केशवमिश्रकृत) (व्याख्या एवं समीक्षात्मक प्रश्न)

इकाई की रूपरेखा :—

- (1.0) उद्देश्य
- (1.1) प्रस्तावना
- (1.2) इकाई के शीर्षक का अर्थ
- (1.3) पाठ्यक्रम
- (1.4) सारांश
- (1.5) सन्दर्भित पुस्तकें
- (1.6) बोध प्रश्न
- (1.7) स्वपरख प्रश्न/अभ्यास

(1.0) उद्देश्य:—

केशवमिश्र रचित 'तर्कभाषा' नामक इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् आप इस योग्य हो सकेंगे कि—

1. आपको न्यायशास्त्र के सिद्धान्तों का परिचय प्राप्त हो सके।
2. आपकी तार्किक क्षमता का विस्तार हो सके।
3. आप भ्रम अथवा सन्देह दूर करने में सक्षम हो सकें।
4. आपकी बुद्धि तीव्र, सुपरिष्कृत और पैनी हो सके।
5. प्रमाणादि षोडशपदार्थों के तत्त्वज्ञान से निःश्रेयस् की प्राप्ति का बोध हो सके।

(1.1) प्रस्तावना :—

भारतीय आस्तिक दर्शनों में न्याय दर्शन ही एक ऐसा प्रमुख दर्शन है, जोकि ज्ञान—मीमांसा का तार्किक विवेचन प्रस्तुत करता है। वस्तुवादी यह दर्शन प्रत्येक विषय का प्रतिपादन तर्क (प्रमाण, युक्ति) द्वारा करता है। दीपक के प्रकाश से जैसे वस्तुओं का ज्ञान होता है, वैसे ही ज्ञान के प्रकाश से पदार्थों के वास्तविक स्वरूप का बोध हो जाता है। तार्किक ढंग से बोध कराने के कारण 'न्याय' को तर्क का पर्याय समझा जाता है। दर्शन जैसे दुर्बोध एवं दुरुह विषय को तर्क के साथ बुद्धि की प्रखरता से आत्मसात् कराने के कारण यह दर्शन समस्त दार्शनिक साहित्य का 'प्रवेश द्वार' कहा जाता है।

न्यायदर्शन के प्रणेता महर्षि गौतम प्रणीत 'न्यायसूत्र' न्यायदर्शन का मूल ग्रन्थ है। बुद्धि को विशद एवं परिष्कृत करने वाले इस शास्त्र के लिए 'आन्वीक्षिकी' शब्द का प्रयोग किया गया है। आन्वीक्षिकी समस्त विद्याओं का प्रदीप है। प्रमाण प्रधान यह दर्शन मनुष्य के विचारों की परिशुद्धि करने में सहायक तथा उन्हें संरक्षित करने में अत्यन्त सहयोगी है। न्यायसूत्र के भाष्यकार वात्स्यायन के

अनुसार तो प्रमाण और तर्क (युक्तियों) द्वारा किसी सिद्धान्त (अर्थ) की परीक्षा करना ही न्याय है— 'प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्यायः।' इसे इसीलिए प्रमाणशास्त्र भी कहा जाता है। वस्तुतः न्याय दर्शन का समग्र साहित्य पदार्थ मीमांसा और प्रमाण मीमांसा में ही विभक्त है। शेष अंश अन्यान्य दर्शनों की भाँति देहादि से परे नित्य आत्मा की सत्ता-सिद्धि का विवेचन है और वही इसका साध्य भी। इस प्रकार सम्पूर्ण न्याय दर्शन से सम्बन्धित साहित्य अपने साध्य (आत्मा) की सिद्धि अथवा अन्तिम लक्ष्य मोक्ष या अपवर्ग प्राप्ति का साधन (प्रमाण) स्वरूप है।

न्याय दर्शन सोलह पदार्थों को स्वीकार करता है, जो कि मूल ग्रन्थ 'न्यायसूत्र' के प्रथम सूत्रानुसार क्रमशः इस प्रकार हैं— 'प्रमाण-प्रमेय-संशय-प्रयोजन-दृष्टान्त-सिद्धान्त-अवयव-तर्क निर्णय-वाद-जल्प-वितण्डा-हेत्वाभास-च्छल-जाति-निग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानान्निश्रेयसाधिगमः।' इन षोडशपदार्थों के तत्त्वज्ञान से निःश्रेयस् (मोक्ष) की प्राप्ति होती है। यही तर्कभाषा का विवेच्य विषय है।

(1.2) इकाई के शीर्षक का अर्थ:—

'तर्क्यन्ते प्रतिपाद्यन्ते, इति तर्काः प्रमाणादयः षोडश पदार्थास्ते भाष्यन्तेऽनया इति तर्कभाषा'— अर्थात् प्रमाणादि सोलह पदार्थों की व्याख्या तर्कपूर्ण ढंग से प्रस्तुत करने के कारण ही 'तर्कभाषा' पुस्तक का नाम रखा गया, जो कि अन्वर्थ भी है और सार्थक भी। यद्यपि न्यायसूत्र प्रतिपादित षोडश पदार्थों में 'तर्क' नामक भी एक पदार्थ है; किन्तु टीकाकारों और भाष्यकारों ने 'तर्क' शब्द का व्युत्पत्तिपरक अर्थ प्रमाणादि षोडश पदार्थ ही किया है— 'तर्क्यन्ते प्रतिपाद्यन्ते' इति तर्काः प्रमाणादयः षोडश पदार्थाः।'

किसी तत्त्व का निर्णय करने के लिए कारणों और युक्तियों सहित जो अनुसन्धान किया जाता है; वस्तुतः वही तर्क है। न्यायशास्त्र का यही प्रधान विषय रहा है। अतः न्यायशास्त्र का नाम ही 'तर्कशास्त्र' हो गया और इसकी व्याख्या तर्कभाषा। इस प्रकार तर्कभाषा न्यायशास्त्र के सिद्धान्तों में प्रवेश के लिए थोड़े से अध्ययन अथवा श्रवण से युक्तियों से अन्वित विवेचन प्रस्तुत करती है। संक्षेप में यही इकाई के शीर्षक का अर्थ है। यद्यपि तर्कवादी इस दर्शन को तर्कविद्या, तर्कशास्त्र, हेतुविद्या, न्यायविद्या, वादविद्या, न्यायशास्त्र, प्रमाणशास्त्र तथा आन्वीक्षिकी आदि नामों से भी अभिहित करते हैं।

(1.3) पाठ्यक्रम :- (व्याख्या)

(1.3.1) 'त्रिविधा चास्य शास्त्रस्य प्रवृत्तिरुद्देशो लक्षणं परीक्षा चेति।'

प्रसंग :- प्रस्तुत अंश न्यायदर्शन के भाष्यकार वात्स्यायन का है, जिसे तर्कभाषाकार ने उद्धृत करते हुए इस शास्त्र की त्रिविध प्रवृत्ति को निरूपित किया है—

हिन्दी अनुवाद :- इस (न्याय) शास्त्र की प्रवृत्ति (प्रयोजनीयता) तीन प्रकार की है— (क) उद्देश (ख)लक्षण तथा (ग) परीक्षा।

व्याख्या :- न्यायसूत्र के प्रथम सूत्र में उल्लिखित षोडश पदार्थों के तत्त्वज्ञान से निःश्रेयस् (अपवर्ग, मोक्ष) की प्राप्ति होती है; किन्तु प्रमाणादि सोलह पदार्थों का सम्यक् यथार्थ ज्ञान तब तक नहीं हो सकता है, जब तक कि इनका उद्देश, लक्षण और परीक्षा न की जाये। यही त्रिविध प्रवृत्ति भाष्यकार वात्स्यायन के अनुसार न्यायशास्त्र की है, जिसे क्रमशः इस प्रकार समझा जा सकता है—

क) उद्देश :- 'उद्देश' का शाब्दिक अर्थ संकेत करना, निर्देश करना आदि है। तर्कभाषा के अनुसार उद्देश से तात्पर्य नाममात्र से वस्तु का संकीर्तन अर्थात् यथार्थ कथन करता है— 'उद्देशस्तु नाममात्रेण वस्तु संकीर्तनम्' यह उद्देश का कथन प्रमाण—प्रमेयादि० न्याय के प्रथम सूत्र द्वारा पूर्व में ही कर दिया गया है।

ख) लक्षण :- 'लक्षणन्त्वसाधारण धर्मवचनम्'—अर्थात् असाधारण धर्म का कथन 'लक्षण' है। यथा— 'गोः सास्नादिमत्वम्।' असाधारण धर्म से तात्पर्य समस्त लक्षणीय पदार्थों में अवश्यम्भावी घटित होने वाला धर्म, जो किसी भी अलक्ष्य में सम्भव नहीं होता है। साधारण शब्दों में पदार्थ (वस्तु) के यथार्थ ज्ञान का अभिसूचक (बोधक) असाधारण धर्म का कथन लक्षण है, जो मात्र लक्षणीय पदार्थ में घटित होता है, जैसे गौ का लक्षण है—उसका सास्नादिमत्व (गलकम्बल से युक्त) होना, जो गौ से व्यतिरिक्त महिषादि में घटित नहीं होता। लक्षण तब तक यथार्थ लक्षण नहीं होता, जब तक कि वह 'अव्याप्ति' 'अतिव्याप्ति' तथा 'असम्भव' नामक त्रिदोषों में से किसी एक से भी युक्त न हो। ये दोष इस प्रकार हैं—

1. अव्याप्ति :- 'लक्ष्यैकदेशे लक्षणस्यावर्तनमव्याप्तिः'— लक्षण यदि लक्षित पदार्थ पर अपर्याप्त रूप से घटित हो तो 'अव्याप्ति' नामक लक्षण—दोष होता है, यथा—'गौ' का शावलेयत्व (चितकबरा) होना यदि उसका (गौ का) लक्षण कहा जाये, तो सभी गौ (पदार्थ) में ऐसा घटित न होने से यह गौ का यथार्थ लक्षण न होकर अव्याप्ति दोषयुक्त लक्षण होगा।
2. अतिव्याप्ति :- जिस धर्म के अनुचित विस्तार से लक्षण—कथन में न आने वाली वस्तुएँ भी सम्मिलित हो जायँ, वहाँ अतिव्याप्ति दोष होता है। जैसे कि यदि 'गौ का श्रृंगित्व होना' लक्षण किया जाय, तो यह बैल, भैंसादि में भी घटित होता है। अतः यह अतिव्याप्ति दोष युक्त होने से गौ का यथार्थ लक्षण नहीं है।
3. असम्भव :- जो लक्षण वस्तु में घटित ही न होता हो, जैसे कि गौ का एक शफत्व (एक खुर वाला) होना, जो कि किसी भी गौ में सम्भव न होने से असम्भव है। कारण, गौ द्विशफ (दो खुरों वाला) प्राणी है।

लक्षण के दो प्रयोजन होते हैं— (1) व्यावृत्ति अर्थात् सजातीय या विजातीय पदार्थों से भेद करना तथा (2) व्यवहार को प्रवृत्त करना।

ग) परीक्षा :- 'लक्षितस्य लक्षणमुपपद्यते न वेति विचारः परीक्षा' अर्थात् 'लक्षित' (वस्तु) का लक्षण (वस्तु में) उपपन्न (प्रमाणित) हो रहा है, अथवा नहीं। प्रमाणों द्वारा इसका विचार करना ही 'परीक्षा' है। इस प्रकार प्रमाणादि सोलह पदार्थों के तत्त्वज्ञान हेतु न्यायशास्त्र की त्रिविध प्रवृत्तियाँ आवश्यक हैं।

(1.3.2) प्रमाकरणं प्रमाणम्।

प्रसंग :- तर्कभाषाकार केशवमिश्र प्रमाणादि सोलह पदार्थों में सर्वप्रथम तत्त्व—ज्ञान प्राप्ति के प्रमुख साधन रूप — 'प्रमाण' का लक्षण प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि—

हिन्दी अनुवाद :- प्रमा का करण 'प्रमाण' है।

व्याख्या :- न्याय सूत्रकार ने प्रमाण सामान्य का कोई लक्षण नहीं दिया है, किन्तु भाष्यकार 'वात्स्यायन' 'प्रमाण' शब्द के निर्वचन को ही उसका लक्षण मानते हुए अलग से प्रमाण का लक्षण करने की आवश्यकता पर बल न देते हुए कहते हैं— 'उपलब्धि साधनानि प्रमाणानीति समाख्याविवेचनसामर्थ्याद्बोद्धव्यम्। प्रमीयते अनेन इति करणार्थभिधानों हि प्रमाणशब्दः'।—न्याय भाष्य, 1/1/3 अर्थात् 'प्र' उपसर्ग पूर्वक 'मा' धातु से करण अर्थ में ल्युट् प्रत्यय से निष्पन्न 'प्रमाण' शब्द से तात्पर्य 'प्रकृष्ट ज्ञान प्राप्त करने का उपाय या साधन है। यहाँ प्रमाण पद के निर्वचन से ही प्रमाण का सामान्य लक्षण ज्ञात हो जाता है। अतः उपलब्धि (ज्ञान या प्रमा) के साधन (करण) को 'प्रमाण' कहते हैं। इसे ही आधार मानकर तर्क भाषाकार ने प्रस्तुत वाक्य की रचना की है — 'प्रमाकरणं प्रमाणम्' अर्थात् प्रमा (यथार्थ ज्ञान) का जो करण (साधन) है, वह 'प्रमाण' है। 'प्रमाण' के प्रस्तुत सामान्य लक्षण वाक्य में दो पद हैं— 'प्रमा' तथा 'करण'।

ज्ञान दो प्रकार का होता है—(1) प्रमा तथा (2) अप्रमा। प्रमा से तात्पर्य विशुद्ध अथवा यथार्थ ज्ञान से है— 'यथार्थानुभवः प्रमा', यथा—रस्सी को रस्सी समझना। इसके विपरीत अयथार्थ ज्ञान को 'अप्रमा' कहते हैं। यथा—भ्रमवश या अज्ञानवश रस्सी को सर्प समझ लेना। इस प्रमा के चार भेद हैं— (1) प्रत्यक्ष (2) अनुमान (3) उपमान (4) शब्द। अप्रमा के भी चार भेद हैं— (1) स्मृति (2) संशय, (3) भ्रम (4) तर्क। इस यथार्थ ज्ञान प्राप्ति अर्थात् प्रमा के दो मुख्य आधार हैं— (1) प्रमाता तथा (2) प्रमेय प्रमाता अर्थात् ज्ञाता, प्रमेय अर्थात् विषय। यथा— हाथी को समक्ष उपस्थित देखकर प्राप्त हुआ हाथी विषयक ज्ञान बिना आपके (प्रमाता), हाथी (प्रमेय) के तथा देखना रूप (प्रमाण) के सम्भव नहीं हैं; क्योंकि प्रमाता को ही प्रमाण रूप साधन से प्रमेय के संदर्भ में यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति होती है।

प्रस्तुत प्रमाण—लक्षण वाक्य में आया दूसरा पद 'करण' है। 'करण' से तात्पर्य 'साधन विषयक हेतु' है। तर्कभाषा में 'कारण' को 'साधकतमं करणम्' अर्थात् प्रकृष्ट, सर्वोत्कृष्ट कारणरूप कहा गया है। इस साधन विषयक हेतु अर्थात् करण का फल—'यथार्थ ज्ञान' है, क्योंकि जिसका साधन होता है, वहीं उसका फल होता है। यहाँ प्रमा का साधन (करण) प्रमाण है, अतः यहाँ प्रमा का साधन होने से प्रमाण का फल 'प्रमा' होगा। यथा—छिदाकरणस्य परशोश्छिदैव फलम् (छेदन का करण फरसे का फल छेदन ही है) इसी प्रकार प्रमा के करण अर्थात् साधन का फल प्रमा ही है अर्थात् 'यथार्थ ज्ञान' का साधन—प्रमाण, का फल यथार्थ ज्ञान ही है। संक्षेप में यथार्थ ज्ञान रूपी फल की प्राप्ति प्रमाण रूपी साधन से ही सम्भव है। इस प्रकार प्रस्तुत वाक्य का अर्थ हुआ— 'यथार्थ ज्ञान का साधन विषयक हेतु अथवा प्रकृष्ट, सर्वोत्कृष्ट करण—'प्रमाण' है। इस लक्षण—वाक्य में लक्ष्य 'प्रमाण' है तथा लक्षण 'प्रमाकरण' है।

(1.3.3) एवं तन्तुरूपं पटरूपस्य असमवायिकारणम्।

प्रसंग :- तर्कभाषाकार ने कारण के तीन भेद बतलाये हैं— (क) समवायिकारण (ख) असमवायिकारण तथा (ग) निमित्तकारण। तर्कभाषा में असमवायिकारण के दो उदाहरण दिये गये हैं। यहाँ असमवायिकारण के दूसरे उदाहरण को देते हुए कहा है—

हिन्दी अनुवाद :- इस प्रकार तन्तुरूप पटरूप का असमवायिकारण है।

व्याख्या :- तर्कभाषाकार के अनुसार कारण का लक्षण है—‘यस्य कार्यात् पूर्वभावो नियतोऽनन्यथासिद्धश्च तत्कारणम्’ अर्थात् जिसकी कार्य अर्थात् उत्पन्न होने वाले घटादि पदार्थों से पहले ही सत्ता निश्चित हो तथा जो अन्यथासिद्ध न हो, उसको कारण कहते हैं। यह कारण तीन प्रकार का है— (क) समवायिकारण (ख) असमवायिकारण (ग) निमित्त कारण। असमवायिकारण के प्रस्तुत उदाहरण की व्याख्या से पूर्व इन तीन कारणों को पारिभाषिक रूप से जानना आवश्यक है—

क) समवायिकारण :- जिसमें समवाय सम्बन्ध से कार्योत्पन्न होता है, उसको ‘समवायिकारण’ कहते हैं। सम्बन्ध दो प्रकार का है— (1) संयोग (2) समवाय। समवाय सम्बन्ध दो अयुतसिद्ध (जिन दो पदार्थों को परस्पर पृथक् पृथक् करके नहीं देखा जा सकता।) पदार्थों में होता है, यथा—तन्तु व पट का सम्बन्ध; शेष का तो सम्बन्ध ‘संयोग’ सम्बन्ध ही है। अतः तन्तु पट के समवायिकारण हैं।

ख) असमवायिकारण :- जो समवायिकरण में रहता (प्रत्यासन्न) हो तथा कार्योत्पादन में जिसकी सामर्थ्य निश्चित हो अर्थात् समवायिकरण में प्रत्यासन्न तथा अनन्यथासिद्ध नियत पूर्वभावी धर्म को असमवायिकारण कहते हैं, यथा—तन्तु संयोग पट का असमवायिकारण है।

(ग) निमित्तकारण :- जो न समवायिकारण है, न असमवायिकारण तथापि जिसमें कारण के लक्षण घटित हों, उसको निमित्तकारण कहते हैं, यथा—वेमादि पट के निमित्तकारण हैं।

यहाँ तन्तुरूप को पटरूप का असमवायिकारण बताया गया है। इसके लिए पटरूप के असमवायिकारण को समझना अनिवार्य है। पटरूप गुण है तथा उसका समवायिकारण गुणी रूप ‘पट’ है। अतः पटगत कोई धर्म ही पटरूप का असमवायिकारण हो सकता है। तन्तुरूप तन्तु का गुण होने से तन्तु में प्रत्यासन्न है, पट में नहीं, तब तन्तुरूप पटरूप का असमवायिकारण हो, यह कैसे सम्भव है?

इसके लिए समवायिकारण में उपस्थित प्रत्यासत्ति को जानना होगा, जो दो प्रकार की होती है—

1. कार्यकार्यप्रत्यासत्ति या साक्षात् प्रत्यासत्ति अर्थात् कार्य पट के साथ कारण तन्तु संयोग की एकार्थ तन्तु में प्रत्यासत्ति ‘साक्षात्’ प्रत्यासत्ति है।

2. कारणैकार्यप्रत्यासत्ति या परम्परया प्रत्यासत्ति वह है, जो कार्य के साथ नहीं अपितु कारण के साथ एकार्थ में प्रत्यासन्न हो, यथा—तन्तुरूप कार्यभूत पटरूप के साथ नहीं; अपितु पटरूप के कारण ‘पट’ के कारण ‘तन्तु’ के साथ एकार्थ में प्रत्यासन्न है। यहाँ समवायिकारण (पट) के समवायिकारण (तन्तु) में प्रत्यासन्न धर्म (तन्तुरूप) को भी परम्परया समवायिकारण में प्रत्यासन्न मानकर तन्तुरूप को पटरूप का असमवायिकारण कहा है अर्थात् तन्तुरूप पटरूप के साथ एकार्थ में समवेत नहीं है, परन्तु पटरूप के कारण ‘पट’ के साथ अवश्य एकार्थ में समवेत हैं, अतः तन्तु रूप भी परम्परया समवायिकारण में प्रत्यासन्न माना जा सकता है तथा इस प्रकार तन्तुरूप पटरूप का असमवायिकारण है।

(1.3.4) लिंगपरामर्शोऽनुमानम्

प्रसंग :- तर्कभाषाकार के अनुसार यथार्थ ज्ञान प्राप्ति के चार साधन (माध्यम) हैं— 1. प्रत्यक्ष, 2. अनुमान, 3. उपमान, 4. शब्द। इसी प्रमाण—विभाग के दूसरे प्रमाण अनुमान का लक्षण करते हुए वे कहते हैं कि—

हिन्दी अनुवाद :- लिंग के परामर्श को अनुमान कहते हैं।

व्याख्या :- वात्स्यायन भाष्य (1.1.3) में अनुमान का शाब्दिक अर्थ 'मितेन लिंगेन अर्थस्य अनु पश्चान्मानमनुमानम्' बताया गया है अर्थात् प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा ज्ञात लिंग से अर्थ के पश्चात् उत्पन्न होने वाले ज्ञान को अनुमान कहते हैं। तर्कभाषाकार ने लिंग परामर्श को अनुमान कहा है। इस लक्षण वाक्य में लिंग व परामर्श दो शब्द हैं, जिनका अर्थ जानना आवश्यक है। लिंग से तात्पर्य अर्थ का बोधक हैं, जो व्याप्ति बल से होता है— 'व्याप्तिबलेन अर्थगमकं लिंगम्।' व्याप्ति से तात्पर्य साहचर्य नियम से है। यथा— 'यत्र—यत्र धूमस्तत्र तत्राग्निः।' इस व्याप्ति बल से जो अर्थ का बोधक हो, वह लिंग है। यहाँ धूम अग्नि का लिंग है। पर्वतादि पर धूम को देखकर 'यत्र—यत्र धूमस्तत्र तत्राग्निः।' व्याप्ति का स्मरण कर अप्रत्यक्ष अग्नि का ज्ञान हो जाता है। अतः धूम अग्नि का लिंग है।

परामर्श के दो अर्थ किए जाते हैं— 1. लिंग के तृतीय ज्ञान को 'परामर्श' कहते हैं या 2. व्याप्तिविशिष्ट पक्षधर्मता ज्ञान को परामर्श कहते हैं। लिंग के तृतीय ज्ञान को इस प्रकार समझा जा सकता है, यथा—महानस (रसोई) आदि में (पूर्व में) बार—बार धूम को देखकर अग्नि को देखने से धूम व अग्नि के साहचर्य सम्बन्ध का निश्चय 'प्रथम दर्शन' है। व्याप्ति ग्रहण के पश्चात् जो पर्वतादि में धूम का दर्शन है वह 'द्वितीय दर्शन' है। इसके पश्चात् पूर्वगृहीत धूम व अग्नि की व्याप्ति के स्मरण के बाद 'अग्निव्याप्य धूमवांश्चायं पर्वतः' इस प्रकार का होने वाला ज्ञान 'तृतीय ज्ञान' है और वह अनुमिति के प्रति कारण होने से 'अनुमान' है; क्योंकि जिससे अनुमिति (अनु पश्चान्मिति प्रमितिः) हो उसको अनुमान कहते हैं। यह तृतीय ज्ञान व्याप्ति तथा पक्षधर्मता —दो अंशों का सूचक है। अग्निव्याप्य व्याप्ति का तथा 'धूमवांश्चायं पर्वतः' पक्षधर्मता का (क्योंकि इससे पर्वत रूप पक्ष में धूम का अस्तित्व का प्रतीत होता है) सूचक है।

अनुमान के प्रस्तुत लक्षण में लिंग परामर्श को अनुमान कहा गया है। लिंग व परामर्श विषयक उपरोक्त व्याख्या से 'लिंगस्य तृतीयं ज्ञानं परामर्शः' की पुष्टि होती है। इस प्रकार लिंग का तृतीय ज्ञान, जो व्याप्ति के बार—बार निश्चय (प्रथम दर्शन), व्याप्ति ग्रहण के बाद पर्वतादि में धूम के दर्शन (द्वितीय दर्शन) के बाद व्याप्ति स्मृति होने पर जो धूमज्ञान है, वह तृतीय दर्शन है, जोकि 'यह पर्वत धूमवान् है' (धूमवांश्चायं पर्वतः) इस प्रकार का होता है और वहीं अग्नि का अनुमान कराता है। इस प्रकार लिंग परामर्श से ही अनुमिति होती है, अतः लिंग परामर्श को अनुमान कहते हैं।

(1.4) सारांश :-

न्याय शब्द से तात्पर्य—'नीयते प्राप्यते विवक्षितार्थसिद्धिरनेन'—अर्थात् जिससे किसी प्रतिपाद्य विषय की अर्थसिद्धि प्राप्त की जा सके, अथवा जिसके द्वारा किसी निश्चित सिद्धान्त पर पहुँचा जा सके। न्यायदर्शन में इस विवक्षितार्थ की सिद्धि में पंचायवयव वाक्य— प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय तथा निगमन सम्मिलित हैं। वात्स्यायन ने न्याय का शाब्दिक अर्थ—'प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्यायः' अर्थात् प्रमाणों द्वारा अर्थ परीक्षण न्याय है, बताया है। न्यायशास्त्र में प्रमाणों व तर्क (वाद—विवाद) की सहायता से प्रतिपाद्य विषय को विवेचित किया जाता है। वाचस्पति महोदय के अनुसार न्यायशास्त्र का उद्देश्य तार्किक बुद्धि द्वारा ज्ञान के विषयों की आलोचनात्मक पड़ताल करना है। न्याय का शाब्दिक अर्थ

प्रणाली, नियम, पद्धति आदि भी है। अतएवं न्याय में पदार्थों (विषयों) की प्रक्रियाओं प्रणालियों की गहन छानबीन के आधार पर निर्णय पर पहुँचने का प्रयास किया जाता है।

न्याय दर्शन का समय गौतम बुद्ध से भी पूर्व का है। न्याय दर्शन के प्रणेता गौतम ऋषि हैं। न्याय साहित्य के तीन भाग हैं— (1) बौद्ध धर्म के पूर्व का न्याय— प्राचीन न्याय (2) बौद्ध तथा जैन न्याय — 'मध्य न्याय' तथा (3) बौद्ध धर्म के पतन व ब्राह्मण धर्म के पुनरुत्थान का न्याय—नव्य न्याय है। प्राचीन व नव्य न्याय आत्मवाद के पोषक तत्त्वों के प्रतिपादक हैं, तथा बौद्ध न्याय 'अनात्म विषयक तत्त्वों के पोषक हैं। न्याय दर्शन दो भागों में विभक्त है— (1) साध्य प्रधान युग (2) साधन प्रधान युग।

न्यायदर्शन में प्रमाणों का विवेचन प्रमुख हैं, जिसके कारण यह प्रमाणशास्त्र भी कहलाता है। इसमें पदार्थमीमांसा व प्रमाणमीमांसा का अद्भुत संयोजन है। वात्स्यायन ने इस दर्शन पर प्रामाणिक भाष्य की रचना की है। महर्षि गौतम प्रणीत न्याय सूत्र में प्रमाणादि सोलह पदार्थों का उल्लेख मिलता है। इन सोलह पदार्थों के यथार्थ ज्ञान प्राप्ति को निःश्रेयस् का प्रमुख साधन बताया गया है। प्रत्येक (यथार्थ) ज्ञान हेतु प्रमाता, प्रमेय, प्रमिति, प्रमाण अपेक्षित हैं।

तर्कभाषा आचार्य केशवमिश्र प्रणीत, न्यायशास्त्र का न्याय प्रधान प्रकरण ग्रन्थ है। इसे भारतीय दर्शन का प्रवेशद्वार कहा जाता है। इसमें प्रमुखतः ब्राह्मणों के न्याय सिद्धान्तों का तथा संक्षेपतः वैशेषिक सिद्धान्तों का विवेचन मिलता है। तर्कभाषा का समय 13वीं शती है। न्याय के इस प्रसिद्ध प्रकरणग्रन्थ पर 20 टीकाएँ लिखी जा चुकी हैं, जिनमें से गोवर्धनमिश्र की 'तर्कभाषा प्रकाशिका', श्री गोपीनाथ कृत 'उज्ज्वला टीका', श्री गणेश दीक्षित कृत 'तत्त्वप्रबोधिनी आदि प्रमुख हैं।

प्रमाण तथा प्रामाण्यवाद :- न्याय का पहला विवेचनीय पदार्थ 'प्रमाण' हैं, जो ज्ञान के सत्यासत्य निर्धारण के लिए आवश्यक है। तर्कभाषा के अनुसार 'प्रमाकरणं प्रमाणम्' अर्थात् यथार्थ ज्ञान (प्रमा) प्राप्ति का जो करण या साधन है, वह प्रमाण है। न्याय दर्शन में चार प्रमाणों को स्वीकृत किया गया है— प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान तथा शब्द। प्रमाणों की संख्या के संदर्भ में दर्शन जगत् में अनेक मत हैं, जैसा कि दर्शनमीमांसा में कहा गया है—

**'प्रत्यक्षमात्रं चार्वाका बौद्धा वैशेषिका द्वयम्।
सांख्या योगास्त्रयं चैव न्याये चैव चतुष्टयम्॥
पंच प्राभाकरा भाट्टास्तथा वेदान्तिनश्च षट्।
पौराणिकास्तथा चाष्टौ प्रमाणान्यत्र मन्यते॥'**

प्रमाणों से प्राप्त होने वाले (निःश्रेयस् प्राप्ति हेतु पदार्थ का यथार्थ) ज्ञान की प्रामाणिकता को ही प्रामाण्यवाद कहा जाता है। प्रामाण्यवाद के विषय में दार्शनिकों के अनेक मत हैं :-

1. न्याय मत में प्रामाण्य व अप्रामाण्य दोनों परतः हैं।
2. सांख्य मत में प्रामाण्य व अप्रामाण्य दोनों स्वतः हैं।
3. मीमांसक मत में प्रामाण्य स्वतः व अप्रामाण्य परतः है।
4. बौद्धैकदेशी मत में अप्रामाण्य स्वतः व प्रामाण्य परतः है।

5. बौद्धमत (शान्तरक्षित) में अभ्यासदशापन्न ज्ञान में दोनों स्वतः व अनभ्यासदशापन्न ज्ञान में दोनों परतः हैं।
6. जैनमत में उत्पत्ति में दोनों परतः तथा ज्ञप्ति में प्रामाण्य व अप्रामाण्य दोनों स्वतः हैं।

न्याय सम्मत चार प्रमाणों का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार हैं—

1. प्रत्यक्ष प्रमाण :- तर्कभाषा के अनुसार साक्षात्कारि प्रमा का करण प्रत्यक्ष प्रमाण कहलाता है। इस साक्षात्कारि प्रमा के तीन कारण हैं— 1. इन्द्रिय 2. इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष तथा 3. ज्ञान। शरीर से संयुक्त अतीन्द्रिय ज्ञान का करण 'इन्द्रिय' है; इन्द्रियार्थसन्निकर्ष में इन्द्रिय का अर्थ (विषय) से सन्निकर्ष (सम्बन्ध) होता है। यह लौकिक तथा अलौकिक भेद से दो प्रकार का है। लौकिक सन्निकर्ष के छः भेद हैं— 1. संयोग 2. संयुक्तसमवाय 3. संयुक्तसमवेतसमवाय 4. समवाय 5. समवेत समवाय 6. विशेषण विशेष्यभाव। अलौकिक सन्निकर्ष तीन प्रकार का है— 1. सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्ति 2. ज्ञानलक्षणा प्रत्यासत्ति तथा 3. योगज प्रत्यासत्ति। ज्ञान दो प्रकार का होता है — 1. परोक्ष तथा 2. अपरोक्ष।

2. अनुमान प्रमाण :- अनुमान का शाब्दिक अर्थ पश्चात् ज्ञान है। अनु पश्चान्मितिः प्रमितिः अर्थात् जिससे अनुमिति हो, उसको अनुमान कहते हैं, यथा—'पर्वतोऽयं अग्निमान् धूमात्' इस अनुमान वाक्य में पर्वत का अग्नि से युक्त रहने का अनुमान धूम हेतु से सिद्ध होता है। यहाँ धूम लिंग द्वारा अग्नि लिंगी का ज्ञान अनुमान है।

तर्कभाषाकार ने लिंग परामर्श को 'अनुमान' कहा है। अनुमान की प्रक्रिया में कुछ साधन महत्त्वपूर्ण हैं— लिंग, लिंगी, साध्य, साधन, पक्ष, व्याप्ति, व्याप्य, व्यापक, पक्षधर्मता, परामर्श तथा अनुमिति। लिंग से तात्पर्य चिन्ह से हैं, लिंग से चिन्हित वस्तु लिंगी है, यथा— 'यत्र—यत्र धूमस्तत्र तत्राग्निः' में धूम लिंग तथा अग्नि लिंगी है। अनुमान द्वारा जो हमें सिद्ध होता है, वह साध्य है, यथा—अग्नि। जिसके माध्यम से ऐसा अनुमान किया जाता है, वह साधन (हेतु) है, यथा—धूम। साध्य व साधन का जहाँ होना पाया जाये वह 'पक्ष' है, यथा—पर्वत। किसी एक पदार्थ में दूसरे पदार्थ का पूर्णरूप से मिला होना अर्थात् नित्य साहचर्य को व्याप्ति कहते हैं, यथा—'यत्र—यत्र धूमस्तत्र तत्राग्निः' में धूम व अग्नि का साहचर्य सम्बन्ध है। व्याप्ति की इस अवस्था में अग्नि व्यापक तथा धूम व्याप्य है। पक्षधर्मता अर्थात् पक्ष में धर्म का प्राप्त होना, यथा—पक्ष पर्वत में धर्म धूम का प्राप्त होना। पक्षधर्मता तथा व्याप्ति से सम्मिलित रूप में प्राप्त होने वाला विशिष्ट ज्ञान परामर्श है तथा परामर्श द्वारा प्राप्त वस्तु ज्ञान अनुमिति है—**परामर्शजन्यं ज्ञानं अनुमितिः**। यथा—'पर्वतोऽयं अग्निमान्' यही अनुमान प्रमाण का अन्तिम फल है।

तर्कभाषा में अनुमान के दो भेद हैं—'तच्चानुमानं द्विविधम्'—1. स्वार्थानुमान तथा 2. परार्थानुमान। स्वयं अपने ज्ञान का कारणभूत अनुमान 'स्वार्थानुमान' है तथा जो कोई स्वयं अनुमान करके दूसरे को पंचावयव अनुमान वाक्यों के प्रयोगपूर्वक बोध कराये वह 'परार्थानुमान' है। प्राचीन न्याय के अनुसार अनुमान तीन प्रकार का है— 1. पूर्ववत् 2. शेषवत् तथा 3. सामान्यतोदृष्ट तथा नव्य न्याय के अनुसार अनुमान के तीन भेद हैं—1. केवलान्वयी, 2. केवलव्यतिरेकी तथा 3. अन्वय व्यतिरेकी।

न्याय में अनुमान के पाँच अवयव बताये गये हैं— प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनान्यवयवाः— न्यायदर्शन, 1/1/32। यथा— 1. प्रतिज्ञा—यह पर्वत अग्निमान है, 2. हेतु—धूम युक्त होने से, 3. उदाहरण—जो—जो धूमवान् है, वह—वह अग्निमान् है यथा—महानस; 4. उपनय—और उसी प्रकार (महानस की भाँति) यहाँ (पर्वत) भी धूम युक्त है; और 5. निगमन— इसीलिए यह पर्वत भी अग्नियुक्त है। लिंग के आधार पर अनुमान होता है। यह लिंग पाँच रूपों से युक्त होता है, जिनका पालन करना आवश्यक है— 1. पक्षसत्त्व 2. सपक्षसत्त्व 3. विपक्षव्यावृत्तत्व 4. अबाधितविषयत्व 5. असत्प्रतिपक्षत्व जब किसी अनुमान में हेतु (लिंग) इन नियमों का अनुपालन नहीं करता, तो वह हेत्वाभास होता है। तर्कशास्त्र में पाँच प्रकार के हेत्वाभास बताये गये हैं— 1. असिद्ध 2. विरुद्ध 3. सत्प्रतिपक्ष 4. सव्यभिचार 5. बाधित।

3. उपमान प्रमाण :- उपमान से तात्पर्य सादृश्य समरूपता है। तर्कभाषा में अतिदेश वाक्य (सादृश्य बताने वाले वाक्य) के अर्थ के स्मरण के साथ गोसादृश्यविशिष्टपिण्ड का ज्ञान 'उपमान' कहा गया है जैसे—'यथा गौस्तथागवयः।'

4. शब्द प्रमाण :- न्याय दर्शन के अनुसार आप्त (पुरुष के) वाक्य शब्द प्रमाण है—'आप्तवाक्यं शब्दः।' वात्स्यायन भाष्य के अनुसार प्रत्यक्ष अनुभव से किसी विषय का ज्ञान 'आप्ति' है, अतः आप्त पुरुष से तात्पर्य ऐसे व्यक्ति जिन्होंने प्रत्यक्ष अनुभव से विषय का साक्षात् किया है। माता, पिता, गुरु आदि लौकिक तथा ऋषि, मुनि, देवादि अलौकिक, आप्त पुरुष की श्रेणी में आते हैं। वाक्य से तात्पर्य पदों का समूह है। इस प्रकार प्रामाणिक व्यक्तियों के प्रामाणिक वचन शब्द प्रमाण है। न्याय में इसे स्वतन्त्र प्रमाण माना गया है। शब्द प्रमाण के दो भेद हैं— 1. दृष्टार्थ 2. अदृष्टार्थ। अदृष्टार्थ। अदृष्टार्थ तीन प्रकार का है— 1. विधि वाक्य 2. अर्थवाद 3. अनुवाद।

कार्य, कारण तथा आरम्भवाद — न्याय दर्शन में सत् से असत् की उत्पत्ति मानी गयी है, असत् से सत् की नहीं। यथा—सत् (मृत्तिका) कारण से असत् (घट) कार्य का उत्पन्न होना। घट को पहले से ही मृत्तिका में सत् मान लेने से कार्य कारण में भेद न रह जायेगा। अतः न्यायमत में कार्य कारण सर्वथा भिन्न माने गये हैं तथा आरम्भवाद को स्वीकार किया गया है, जिसके अनुसार जिस विशिष्ट वस्तु की कार्योत्पत्ति से पूर्व ही सत्ता निश्चित हो तथा जो अन्यथासिद्ध (कार्योत्पत्ति हेतु व्यर्थ) न हो, वह 'कारण' है। अन्यथासिद्ध पाँच प्रकार के हैं—

'येन सह पूर्वभावः कारणमादाय वा यस्य।

अन्यं प्रति पूर्वभावे ज्ञाते यत्पूर्वभावविज्ञानम्।।

जनकं प्रति पूर्ववृत्तितामपरिज्ञाय न यस्य गृह्यते।

अतिरिक्तमथापि यद्भवेन्नियतावश्यक पूर्वभाविनः।।'

कारण तीन प्रकार के हैं— 1. समवायिकारण 2. असमवायिकारण 3. निमित्तकारण। असमवायिकारण भी कार्यकार्यप्रत्यासन्न तथा कारणैकार्यप्रत्यासन्न के रूप में दो प्रकार का है।

संक्षेप में, न्यायमत के अनुसार कार्य कारण में पूर्व विद्यमान नहीं हैं, अपितु वह नियत पूर्वभावी अन्यथासिद्धत्व वाले कारण द्वारा उत्पन्न किया जाता है। यही न्याय का आरम्भवाद है।

हेतु तथा हेत्वाभास :- अनुमान की सिद्धि में हेतु महत्त्वपूर्ण है। यदि हेतु विशुद्ध व दोषरहित हो, तो अनुमान भी शुद्ध व दोषरहित होता है। हेतु के लिए पाँच नियमों का पालन करना आवश्यक है— 1. पक्षसत्त्व 2. सपक्षसत्त्व 3. विपक्षव्यावृत्तत्व 4. अबाधितविषयत्व तथा 5. असत्प्रतिपक्षत्व। किन्तु जब हेतु इन नियमों का अनुपालन नहीं करता अर्थात् अशुद्ध व दोषयुक्त हो जाता है, तो वह मात्र हेतु का आभास दिलाता है, किन्तु वस्तुतः वह हेतु नहीं होता। साध्य की सिद्धि में समर्थ नहीं हो पाने के कारण वह (हेतु) 'हेत्वाभास' है— 'असाधको हेतुत्वेनाभिमतो हेत्वाभासः।'

हेत्वाभास पाँच प्रकार का है— 1. असिद्ध 2. विरुद्ध 3. सत्प्रतिपक्ष 4. सव्यभिचार तथा 5. बाधित।

अयुतसिद्ध :- जब दो पदार्थों में से एक पदार्थ अविनश्यदवस्था तक (नष्ट न होता हुआ) दूसरे पदार्थ के आश्रित रहता है, तो वे दोनों पदार्थ अयुतसिद्ध कहलाते हैं, यथा—तन्तु व पट परस्पर आश्रित होने के कारण अयुतसिद्ध पदार्थ है। अयुतसिद्ध पाँच प्रकार के हैं—

1. अवयव तथा अवयवी, यथा—तन्तु व पट।
2. गुण तथा गुणी, यथा—मेज का रूप तथा मेज।
3. क्रिया तथा क्रियावान्, यथा—गेंद का लुढ़कना तथा गेंद।
4. जाति तथा व्यक्ति, यथा—आश्वत्व तथा अश्व अथवा स्त्रीत्व तथा स्त्री।
5. नित्य द्रव्य तथा विशेष, यथा—परमाणु आदि नित्य पदार्थ तथा अन्तिम भेदक धर्म—'विशेष'

पदार्थ :- पदार्थ के विषय में भिन्न-भिन्न दर्शनों की अपनी-अपनी मान्यता है। यथा—सांख्य जहाँ व्यक्त, अव्यक्त और ज्ञ सहित 25 तत्त्वों का विवेचन करता है, वहीं योग दर्शन में चित्तवृत्ति निरोध तथा समाधि का विशेष रूप से निरूपण किया गया है। जिसमें अष्टांग योग का विशेष महत्त्वपूर्ण उल्लेख है। मीमांसा (पूर्व मीमांसा) दर्शन पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि, आकाश, काल, आत्मा, मन तथा दिशा—ये नौ द्रव्य स्वीकार करता है तो वेदान्त (उत्तर मीमांसा) ब्रह्म, अज्ञान (माया), जीव-जगत् आदि का विवेचन प्रस्तुत करता है। वैशेषिक दर्शन जहाँ सात पदार्थों—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य विशेष, समवाय तथा अभाव को मानता है, वहीं न्याय दर्शन को सोलह पदार्थ मान्य हैं जिनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

1. प्रमाण :- न्यायदर्शन के भाष्यकार वात्स्यायन प्रमाण शब्द के निर्वचन को ही उसका लक्षण मानते हुए लिखते हैं—'उपलब्धिसाधनानि प्रमाणानीति समाख्यानिर्वचनसामर्थ्याद्बोद्धव्यम्। प्रमीयते अनेन इति करणार्थाभिधानो हि प्रमाणशब्दः'। इसी आधार पर तर्कभाषाकार ने प्रमाण का लक्षण किया है— 'प्रमाकरणं प्रमाणम्।'

2. प्रमेय :- प्रमा (ज्ञान) के विषय को 'प्रमेय' कहा गया है, 'प्रमा विषयत्वं प्रमेयत्वम्' जैसा कि भाष्यकार ने उद्धृत किया है— 'योऽर्थः तत्त्वतः प्रमीयते तत्प्रमेयत्वम्।' गौतम के न्यायसूत्र में प्रमेय बारह (12) प्रकार के बताये गये हैं— आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, अर्थ, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, फल, दुःख तथा अपवर्ग।

3. संशय :- एक धर्म में विरुद्ध नाना अर्थों का अवमर्श (विमर्श) 'संशय है- 'एकस्मिन् धर्मिणि विरुद्धनानार्थावमर्शः संशयः ।'
4. प्रयोजन :- 'यमर्थमधिकृत्य प्रवर्तते तत् प्रयोजनम्' अर्थात् जिस अर्थ (विषय) को अधिकृत मानकर किसी कार्य (को करने) में प्रवृत्ति होती है, वह 'प्रयोजन' है।
5. दृष्टान्त :- 'लौकिकपरीक्षकाणां यस्मिन्नर्थे बुद्धिसाम्यं स दृष्टान्तः' अर्थात् लौकिक (साधारण जनों) परीक्षकों (विशेषज्ञों) को जिस अर्थ के विषय में एक सा ज्ञान हो, वह अर्थ दृष्टान्त है।
6. सिद्धान्त :- 'प्रामाणिकत्वेनाभ्युपगतोऽर्थः सिद्धान्तः' अर्थात् प्रामाणिक रूप से स्वीकार किया जाने वाला अर्थ सिद्धान्त है।
7. अवयव :- अनुमान वाक्य का एकदेश अवयव कहलाता है- 'अनुमानवाक्यस्यैकदेशावयवाः ।'
8. तर्क :- 'तर्कोऽनिष्टप्रसंगः'-अनिष्ट प्रसंग को तर्क कहा जाता है।
9. निर्णय :- निश्चयात्मक ज्ञान निर्णय है- 'निर्णयोऽवधारणज्ञानम् ।'
10. वाद :- 'तत्त्वबुभुत्सोः कथा वादः'-अर्थात् तत्त्वजिज्ञासुओं की कथा 'वाद' है।
11. जल्प :- दोनों वादी-प्रतिवादी के अपने-अपने पक्ष के साधन से युक्त विजिगीषु (विजय की आकांक्षा से पूर्ण) की कथा 'जल्प' है- 'उभयसाधनवती विजिगीषुकथा जल्पः ।'
12. वितण्डा :- स्व-पक्ष की स्थापना से हीन वहीं विजिगीषु कथा रूप जल्प वितण्डा है- 'स एव स्वपक्षस्थापनाहीनो वितण्डा ।'
13. हेत्वाभास :- अनुमान प्रमाण में महत्वपूर्ण अवयव हेतु के पाँच रूपों में से किसी भी एक रूप से हीन 'अहेतु' के हेतु के समान आभासित होने को हेत्वाभास कहा गया है- 'कतिपय हेतुरुपयोगाद्धेतुवदाभासमानाहेत्वाभासाः ।'
14. छल :- अन्य अभिप्राय से प्रयोग किये गये शब्द का किसी अन्य अर्थ में कल्पना करके दोष देना 'छल' है- 'अभिप्रायान्तरेण प्रयुक्तस्य शब्दस्यार्थान्तरं परिकल्प्य दूषणाभिधानं छलम् ।'
15. जाति :- 'असदुत्तरं जातिः'-असत् उत्तर का नाम जाति कहा गया है।
16. निग्रह स्थान :- 'पराजय हेतुः निग्रहस्थानम्' पराजय का हेतु निग्रहस्थान है।

(1.5) संदर्भित पुस्तकें :-

1. तर्कभाषा :- आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्तशिरोमणि, (तर्करहस्यदीपिका हिन्दीव्याख्याविभूषिता)
2. तर्कभाषा :- डॉ० कृष्णकान्त त्रिपाठी
3. तर्कभाषा :- डॉ० श्रीनिवास शास्त्री
4. तर्कभाषा :- डॉ० एच०एन० यादव
5. तर्कभाषा :- डॉ० शिवबालक द्विवेदी
6. तर्कभाषा :- आचार्य बदरीनाथ शुक्ल
7. न्यायदर्शन :- हरिमोहन झा
8. भारतीय न्यायशास्त्र का एक अध्ययन :- डॉ० ब्रह्ममित्र अवस्थी

(1.6.) बोध प्रश्न :-

(1.6.1) बोध प्रश्न (दीर्घ उत्तरीय)

1. प्रश्न :- तर्कभाषा के अनुसार प्रत्यक्ष प्रमाण को स्पष्ट कीजिए।

उत्तर :- 'प्र' उपसर्गपूर्वक 'माड्' धातु से ल्युट् प्रत्यय का योग होन पर 'प्रमाण' शब्द की निष्पत्ति होती है, जिसका अर्थ है—भलीभाँति सिद्ध करना—'प्रकर्षेण मीयते प्रमीयते अनेनेति प्रमाणम्।' दार्शनिक मतानुसार प्रमा का करण प्रमाण है— 'प्रमाकरणं प्रमाणम्।' प्रमाण के इस लक्षण में दो पद विचारणीय हैं— प्रमा तथा करण। तर्कभाषा के अनुसार यथार्थ अनुभव को 'प्रमा' (यथार्थनुभवः प्रमा) अर्थात् विषय का यथार्थ ज्ञान 'प्रमा' तथा अज्ञानवश बाधित ज्ञान 'अप्रमा' है। साधकतम को करण (साधकतमं करणम्) कहते हैं। इस प्रकार प्रमा (ज्ञान—प्राप्ति) का जो करण (साधन) है, वह 'प्रमाण' है। न्यायानुसार प्रमाण चार हैं— प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द।

प्रत्यक्ष प्रमाण के संदर्भ में आस्तिक, नास्तिक सभी दर्शन एकमत हैं। तर्कभाषा के अनुसार 'साक्षात्कारिप्रमाकरणं प्रत्यक्षम्' अर्थात् साक्षात्कारि प्रमा का करण प्रत्यक्ष प्रमाण कहलाता है, अर्थात् यह साक्षात्कारि प्रत्यक्ष प्रमा इन्द्रियजन्य होती है। इस प्रकार इन्द्रियग्राह्य ज्ञान 'प्रत्यक्ष' है। 'यही यथार्थ ज्ञान कहा जाता है, यथा—सामने रखे घटादि से नेत्रेन्द्रिय का संयोग घटादि का निश्चित ज्ञान (अर्थात् यह घट है) कराता है। प्रमुख रूप से इन्द्रियाँ दो प्रकार की हैं— (1) कर्मेन्द्रिय तथा (2) ज्ञानेन्द्रिय। ज्ञानेन्द्रियों की सहायता से प्रत्यक्ष ज्ञान की प्राप्ति होती है। ज्ञानेन्द्रियाँ पाँच हैं—श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा, घ्राण; जिनसे शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि विषयों के ज्ञान की प्राप्ति होती है। इन ज्ञानेन्द्रियों में से जिह्वा, घ्राण तथा त्वक् अपने स्थान पर रहकर ही अपने—अपने विषयों का ग्रहण करती हैं, जबकि नेत्र व श्रोत्र विषय तक पहुँचकर ज्ञान कराते हैं। यह इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष ज्ञान (प्रमा) दो प्रकार का होता है—(1) सविकल्पक ज्ञान तथा (2) निर्विकल्पक ज्ञान।'

1. सविकल्पक ज्ञान :- 'नामजात्यादि योजनासहितं सविकल्पकम्' अर्थात् वस्तु के स्वरूप ज्ञान पूर्वक उसके नाम, जाति, गुण आदि का ज्ञान 'सविकल्पक ज्ञान' कहलाता है। यथा—घट, पटादि ज्ञान में उनके नाम जात्यादि का भी भाव होना सविकल्पक ज्ञान है। सामान्यतः व्यवहार में आने वाले ज्ञान सविकल्पक हैं।

2. निर्विकल्पक ज्ञान :- 'नामजात्यादियोजनाहीनं वस्तुमात्रावगाहिज्ञानं निर्विकल्पकम्' अर्थात् विशेषण विशेष्य भावादि की प्रतीति से रहित ज्ञान 'निर्विकल्पक ज्ञान' है। इसे 'आलोचन मात्र' भी कहा गया है— 'अस्ति ह्यालोचनज्ञानं प्रथमं निर्विकल्पकम्'—श्लोक वार्तिक, 172। जैन दर्शन की परम्परा में मात्र सविकल्पक को ही प्रत्यक्ष माना गया है। निर्विकल्पक को 'अनध्यवसाय' कहकर प्रत्यक्ष से बाहर रखा है। यद्यपि वह इस ज्ञान का अस्तित्व स्वीकार करते हैं, किन्तु 'दर्शन' नाम से। न्याय, वैशेषिक आदि वैदिक दर्शन की परम्परा में सविकल्पक तथा निर्विकल्पक दोनों ही प्रत्यक्ष माना गया है। मध्वाचार्य, बल्लभाचार्य की दो वेदान्त परम्पराओं ने तथा भर्तृहरि व उनके पूर्ववर्ती वैयाकरणों की परम्परा में भी विशेष्य विशेषण भावरहित किसी ज्ञान अर्थात् निर्विकल्पक ज्ञान को स्वीकार नहीं किया है।

ज्ञान परोक्ष तथा अपरोक्ष रूप से दो प्रकार का होता है। परोक्ष ज्ञान में दूसरा ज्ञान 'करण' होता है, यथा—अनुमिति में व्याप्ति ज्ञान। प्रत्यक्ष ज्ञान में कोई दूसरा ज्ञान करण न होने से 'अपरोक्ष ज्ञान' कहलाता है। निर्विकल्पक ज्ञान को मानने वाले उसे प्रत्यक्ष या अपरोक्ष की श्रेणी में रखते हैं, किन्तु 'दर्शन' नाम से व्यवहृत करने वाले जैन परम्परा में उसे 'परोक्ष' माना गया है, क्योंकि यहाँ 'मतिज्ञान' को भी उल्लेखनीय या ग्राह्य (प्रत्यक्ष) माना गया है।

उल्लेखनीय है कि जहाँ सभी दर्शन प्रत्यक्ष प्रमाण के अतिरिक्त अनुमानादि किसी अन्य प्रमाण में अपरोक्ष ज्ञान अथवा निर्विकल्पक ज्ञान की उत्पत्ति को स्वीकार नहीं करते, वहीं शंकर वेदान्त में 'तत्त्वमसि' इत्यादि महावाक्य से अपरोक्ष निर्विकल्पक की उत्पत्ति मानी गयी है। (इसके लिए 'दशमस्त्वमसि' इस लौकिक उदाहरण को प्रस्तुत किया गया है। कुल दस साथियों के समूह वाला जब कोई अपने साथियों की गणना करता हुआ दसवें साथी का पता नहीं लगा पाता, तब उसे किसी अन्य व्यक्ति से 'दशमस्त्वमसि' इस वाक्य में दशम् व्यक्ति के रूप में स्वयं का होने वाला ज्ञान अपरोक्ष ज्ञान है। इसी प्रकार 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों में शब्द प्रमाण से अपरोक्ष निर्विकल्पक ज्ञान ग्राह्य होता है। अतः शांकरवेदान्त में शब्दप्रमाण को भी अपरोक्ष निर्विकल्पक ज्ञानोत्पत्ति का कारण माना गया है।

बौद्ध तथा वेदान्त दर्शन निर्विकल्पक ज्ञान को ही प्रत्यक्ष मानते हैं, जबकि न्याय व वैशेषिक में सविकल्पक व निर्विकल्पक दोनों को ही प्रत्यक्ष प्रमाण माना गया है।

इस प्रत्यक्ष अर्थात् साक्षात्कारि प्रमाण के तीन करण हैं— (1) इन्द्रिय (2) इन्द्रियार्थसन्निकर्ष (3) ज्ञान (निर्विकल्पक)।

1. **इन्द्रिय** :- शरीर से संयुक्त अतीन्द्रिय ज्ञान का करण 'इन्द्रिय' है।

2. **इन्द्रियार्थसन्निकर्ष** :- इन्द्रिय का अर्थ (विषय) से सन्निकर्ष (सम्बन्ध) इन्द्रियार्थसन्निकर्ष है।

प्रकारान्तर से इसके क) लौकिक तथा (ख) अलौकिक दो भेद स्वीकृत हैं :-

क) लौकिक सन्निकर्ष :- इन्द्रियार्थसन्निकर्ष आदि करणों की सहायता से लौकिक पुरुषों का प्रत्यक्ष 'लौकिक सन्निकर्ष' है। लौकिक सन्निकर्ष छः प्रकार का होता है— 1. संयोग 2. संयुक्तसमवाय. 3. संयुक्तसमवेतसमवाय 4. समवाय 5. समवेतसमवा 6. विशेष्य— विशेषणभाव।

1) **संयोग** :- इन्द्रिय तथा अर्थ का सन्निकर्ष 'संयोग' है, अयुतसिद्ध का अभाव होने से। यथा—चक्षु (इन्द्रिय) तथा घट (अर्थ) का सम्बन्ध। यहाँ चक्षु व घट अयुतसिद्ध नहीं है। यदि होते तो इनका सन्निकर्ष 'समवाय' होता 'संयोग' नहीं। इसी प्रकार अन्तरेन्द्रिय मन तथा आत्मा (अर्थ) का सन्निकर्ष 'संयोग' है।

2) **संयुक्तसमवाय** :- चक्षु आदि (इन्द्रिय) से घटगत रूप (अर्थ) का ग्रहण संयुक्तसमवाय है, क्योंकि यहाँ घट में घटगत रूप समवाय रूप से विद्यमान है। अतः चक्षु से संयुक्त घट में रूप का समवाय होने से 'संयुक्तसमवाय' है। मन से आत्मा में रहने वाले सुखादि गुणों के ग्रहण होने से संयुक्त समवाय है।

3) **संयुक्तसमवेतसमवाय** :- चक्षु से संयुक्त घट में रूप समवाय सम्बन्ध से रहता है, तथा रूप में रूपत्व (जाति) समवेत है, अतः चक्षु (इन्द्रिय) से घटरूप में समवेत रूपत्वादि सामान्य (अर्थ) का परम्परया सन्निकर्ष 'संयुक्तसमवेतसमवाय' है।

4) **समवाय** :- श्रोत्र द्वारा शब्द का ग्रहण 'समवाय' है, क्योंकि श्रोत्र आकाश रूप है, तथा शब्द आकाश का गुण है। अतः आकाश रूप श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा आकाश के गुण रूप शब्द का ग्रहण 'समवाय' है।

5) **समवेतसमवाय** :- जब श्रोत्र द्वारा शब्द में समवाय रूप से विद्यमान शब्दत्वादि का ग्रहण होता है, तो श्रोत्र (इन्द्रिय) का शब्दत्व (जाति) से सन्निकर्ष समवेतसमवाय है, अर्थात् शब्द के साथ शब्दत्व का भी ग्रहण श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा होना 'समवेतसमवाय' है।

6) **विशेष्य—विशेषणभाव** :- अभाव तथा समवाय का ग्रहण विशेष्य—विशेषणभाव है, जिसमें ऊपर दिये सम्बन्धों में से कोई एक सम्बन्ध होना आवश्यक है। यथा—'पटवन्तस्तन्तवः' में पट विशेषण तथा तन्तु विशेष्य है तथा इनका सम्बन्ध समवाय है और तन्तु में पट समवाय सम्बन्ध से विशेषण है। इसी प्रकार चक्षु से संयुक्त भूतल में घट के अभाव में भूतल व घट का संयोग सम्बन्ध है। यहाँ चक्षु से संयुक्त भूतल का घटाभाव विशेषण तथा भूतल विशेष्य है। इसी प्रकार अन्तरिन्द्रिय (मन) से संयुक्त आत्मा में सुखाभाव की प्रतीति भी विशेष्य—विशेषणभाव है। यहाँ मन से संयुक्त आत्मा में सुखाभाव (समवाय सम्बन्ध से) विशेषण तथा आत्मा विशेष्य है।

ख) अलौकिक सन्निकर्ष :- योगीजनों द्वारा बिना इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष से अपनी योगज सामर्थ्य मात्र के माध्यम से जो भविष्य, सूक्ष्म, व्यवधानयुक्त, दूरवर्ती वस्तुओं का ग्रहण कर यथार्थ व साक्षात्कारात्मक (निर्विकल्पक) ज्ञान प्राप्त किया जाता है, वह अलौकिक सन्निकर्ष है। अलौकिक सन्निकर्ष के विश्वनाथ ने तीन भेद बतलाए हैं —

'अलौकिकस्तु व्यापारस्त्रिविधः परिकीर्तितः।

सामान्यलक्षणो ज्ञानलक्षणो योगजस्तथा।।' न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, 63

1. **सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्ति** :- एक वस्तु में रहने वाले सामान्य धर्म द्वारा सजातीय अन्य समस्त वस्तुओं से लौकिक सन्निकर्ष हुए बिना, उन सबके (समस्त सजातीय वस्तुओं के) प्रति होने वाला ज्ञान सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्ति है; यथा—महानस में धूम व अग्नि को देखकर धूमत्व सामान्य तथा अग्नि सामान्य से क्रमशः समस्त धूमों व समस्त अग्नियों का प्रत्यक्ष।

2. **ज्ञानलक्षणा प्रत्यासत्ति** :- एक इन्द्रिय के विषय का दूसरी इन्द्रिय द्वारा अनुभूत होना, ज्ञान लक्षणा प्रत्यासत्ति है। यह अतीत के ज्ञान के आधार पर होता है। यथा—**सुरभि चन्दन खण्डम्** । चन्दन को देखकर उसके सुगन्धित होने की अनुभूति पूर्व में (अतीत में कभी) चन्दन को देखने तथा सूँघकर अनुभव करने के कारण होती है और इस प्रकार पुनः चन्दन को देखकर घ्राणेन्द्रिय से उसकी (चन्दन की) गन्ध का ग्रहण किये बिना ही '**सुरभि चन्दन खण्डम्**' जैसा ज्ञान ज्ञानलक्षणा प्रत्यासत्ति है। उल्लेखनीय है कि ज्ञानलक्षणा प्रत्यासत्ति से इन्द्रिय सन्निकर्ष आश्रय के साथ न होकर जिसका ज्ञान होता है, उसके साथ

होता है। जैसा कि –‘सुरभि चन्दन खण्डम्’ में सुरभि (सुगन्ध) के आश्रय (चन्दन खण्ड) से इन्द्रिय सन्निकर्ष (सम्बन्ध) न होने पर भी होने वाले ज्ञान (चन्दन खण्ड का सुगन्ध युक्त होना) से होता है।

3. योगज प्रत्यासत्ति :- व्यवहित (बाधित), भूत, भविष्यत् आदि की वस्तुओं से लौकिक इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष सम्भव नहीं, किन्तु योगीजन अपने योगज सामर्थ्य से (योगाभ्यास व ध्यान से युक्त) अलौकिक इन्द्रियों से सन्निकर्ष कर प्रत्यक्ष ज्ञान को प्राप्त करते हैं, यह दो प्रकार का है –

‘युक्तस्य सर्वदा भानं चिन्तासहकृतोऽपरः’ न्याय सिद्धान्तमुक्तावली 66। युक्त योगी (निर्विकल्पक समाधि वाला) को यह ज्ञान सर्वदा होता रहता है, जबकि ‘युञ्जान’ (सविकल्पक समाधि तक की श्रेणी वाले) योगी को चिन्ता करने से अर्थज्ञान होता है।

3. ज्ञान (निर्विकल्पक) :- साक्षात्कारि प्रमा का तीसरा कारण ज्ञान निर्विकल्पक और सविकल्पक भेद से दो प्रकार का होता है। निर्विकल्पक ज्ञान जब प्रमा का कारण होता है, तब हानोपादानोपेक्षाबुद्धि फल होती है तथा सविकल्पक ज्ञान अवान्तर व्यापार होता है।

संक्षेप में यही साक्षात्कारि प्रमा अर्थात् प्रत्यक्ष प्रमाण है।

(1.6.2) बोधप्रश्न (लघु उत्तरीय)

1. प्रश्न :- अन्यथासिद्ध से क्या तात्पर्य है? तर्कभाषा के अनुसार अन्यथासिद्ध को स्पष्ट कीजिए।

उत्तर :- ‘अन्यथासिद्ध’ का अर्थ है, अन्य प्रकार से उपयुक्त अथवा चरितार्थ होना। तात्पर्य यह है कि किसी कारण में कार्य को उत्पन्न करने की जो शक्ति होती है, वह जब किसी एक कार्य के प्रति उपयुक्त, प्रयुक्त अथवा उस कार्य की सम्पन्नता में चरितार्थ हो चुकती है, तो वह कारण (शक्ति) अन्य कार्य के प्रति अन्यथासिद्ध कहलाता है। अतः जो अन्यथासिद्ध नहीं होता है, वही अनन्यथासिद्ध कहलाता है, जिसको तर्कभाषाकार ने कारण और कार्य के लक्षण में प्रयुक्त किया है। यथा— ‘यस्य कार्यात् पूर्वभावो नियतोऽन्यथासिद्धश्च तत्कारणम्’ तथा ‘अन्यथासिद्धनियतपश्चाद्भावित्वं कार्यत्वम्।’ श्री आचार्य विश्वनाथ ने न्यायसिद्धान्तमुक्तावली में पाँच प्रकार के अन्यथासिद्ध बतलाये हैं।

येन सह पूर्वभावः कारणमादाय वा यस्य ।

अन्यं प्रति पूर्वभावे ज्ञाते यत्पूर्वभावविज्ञानम् ॥

जनकं प्रति पूर्ववृत्तितामपरिज्ञाय न यस्य गृह्यते ।

अतिरिक्तमथापि यद्भवेन्नियतावश्यकपूर्वभाविनः ॥ 19–20

1. येन सह पूर्वभाव :- जिस धर्म के साथ कारण का कार्य के प्रति पूर्वभाव गृहीत होता है, वह धर्म कार्य के प्रति अन्यथासिद्ध होता है। यथा—दण्ड घट का कारण है। उसकी कारणता दण्डत्व धर्मविशिष्ट दण्ड में गृहीत होती है। अतः दण्डत्व के साथ पूर्वभाव गृहीत होने से दण्डत्व घट के प्रति प्रथम प्रकार का अन्यथासिद्ध है।

2. कारणमादाय वा यस्य :- जिसका कार्य के साथ स्वतन्त्र रूप से अन्वयव्यतिरेक न हो, अपितु अपने कारण के द्वारा अन्वयव्यतिरेक हो, वह द्वितीय प्रकार का अन्यथासिद्ध कहलाता है। यथा—घट के

प्रति दण्डरूप स्वतन्त्र रूप से अन्वय व्यतिरेकी न होकर अपने कारण दण्ड के द्वारा अन्वयव्यतिरेकी है, अतः दण्डरूप घट के प्रति अन्यथासिद्ध है।

3. **अन्यं प्रति पूर्वभावे ज्ञाते यत्पूर्वभावविज्ञानम्** अर्थात् किसी अन्य के प्रति पूर्वभाव ज्ञात होने पर ही जिसका कार्य के प्रति पूर्वभाव गृहीत हो, वह तृतीय अन्यथासिद्ध है। यथा—आकाश घट के प्रति अन्यथासिद्ध है, क्योंकि आकाश प्रत्यक्ष नहीं है। उसकी सिद्धि शब्द के समवायिकारण के रूप में अनुमान द्वारा होती है, अतः शब्द (अन्य) के प्रति पूर्वभाव गृहीत होने पर ही उसकी घट के प्रति पूर्ववृत्तिता सम्भव है। अतः आकाश घट के प्रति अन्यथासिद्ध है।
4. **जनकं प्रति पूर्ववृत्तितामपरिज्ञाय न यस्य गृह्यते**— कारण के प्रति पूर्ववृत्तिता अर्थात् कारणत्व के बिना जिसकी कार्य के प्रति पूर्ववृत्तिता गृहीत न हो वह चतुर्थ अन्यथासिद्ध यथा—कुम्भकार का पिता घट के प्रति अन्यथासिद्ध है। इस प्रकार कारण का कारण चतुर्थ प्रकार का अन्यथासिद्ध है।
5. **अतिरिक्तमथापि यद्वेन्नियतावश्यकपूर्वभाविनः**— नियतावयक पूर्वभाव के अतिरिक्त जो कुछ भी है, वह सब अन्यथासिद्ध है। यथा—पटोत्पत्ति के समय दैवात् आया रासभ पट के प्रति अन्यथासिद्ध है।

इन पाँचों प्रकार के अन्यथासिद्ध में से तर्कभाषाकार ने अन्तिम पंचम अन्यथासिद्ध को कारण के लक्षण में 'नियत' पद से सूचित किया है, जोकि उक्त अन्यथासिद्ध के महत्त्व को प्रदर्शित करता है।

(1.7) स्वपरख प्रश्न/अभ्यास :-

1. न्याय के अनुसार प्रमाण कितने हैं? किसी एक का विस्तृत वर्णन कीजिए।
2. न्यायप्रतिपादित प्रमाणों का संक्षिप्त विवरण दीजिए।
3. करण किसे कहते हैं? क्या कारण ही करण है? स्पष्ट कीजिए।
4. तर्कभाषा के आधार पर अनुमान प्रमाण को स्पष्ट कीजिए।
5. हेत्वाभास से क्या तात्पर्य है? हेत्वाभास कितने प्रकार के होते हैं? विवरण दीजिए।
6. तर्कभाषा के अनुसार परतः प्रामाण्यवाद के सिद्धान्त का निरूपण कीजिए।
7. तर्कभाषा के अनुसार लिंगपरामर्श क्या है?
8. न्यायशास्त्र की त्रिविध प्रवृत्तियों का संक्षिप्त उल्लेख कीजिए।
9. न्याय दर्शन के आधार पर प्रमा का स्वरूप विवेचन कीजिए।
10. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए—

क) समवाय सम्बन्ध	[k] षोढा सन्निकर्ष
ग) अन्यथासिद्ध	घ) समवायिकारण
च) उपमान	छ) अर्थापत्ति

11. प्रश्न :- तर्कभाषा के आधार पर अयुतसिद्ध का स्वरूप स्पष्ट कीजिए।

उत्तर :- तर्कभाषा के अनुसार :-

‘तावेवायुतसिद्धौ द्वौ विज्ञातव्यौ ययोर्द्वयोः।

अविनश्यदेकमपराश्रितमेवावतिष्ठते।।’

अर्थात् ऐसे दो पदार्थ, जिनमें से एक अविनश्यदवस्था में दूसरे पर आश्रित रहता है, अयुतसिद्ध कहलाते हैं। एक के बिना दूसरे पदार्थ का अस्तित्व नहीं रहता। दोनों पदार्थों में एक आश्रित पदार्थ तथा दूसरा आश्रय पदार्थ होता है। अविनश्यदवस्था अर्थात् विनश्यदवस्था से पूर्व अवस्था तक आश्रित पदार्थ आश्रय पदार्थ में रहता है। यथा—घट आश्रय पदार्थ में घटगत रूप व क्रिया आदि आश्रित पदार्थ घटनाश के पूर्व तक उसमें विद्यमान रहता है। चूँकि कारण के नाश से कार्य का नाश होता है। कारण—नाश व कार्य—नाश में पौर्वापर्य भाव होना आवश्यक है, अतः घट के नाश से घटगत रूप व क्रिया आदि का भी नाश हो जाता है। कारण व कार्यनाश के मध्य जो एक क्षण का अन्तर है, वही गुण व क्रिया का विनश्यत्ताकाल होता है। इस एक क्षण में रूपादि गुण निराश्रित रहकर अगले क्षण ही नष्ट हो जाते हैं। अतः अयुतसिद्ध के लक्षणवाक्य में अविनश्यत् पद महत्त्वपूर्ण है, जिससे अयुतसिद्ध पदार्थों का विनाशकाल से पूर्व तक ही दूसरे पदार्थ पर आश्रित होना आवश्यक है। विनश्यत्ताकाल में पराश्रित रहना आवश्यक नहीं।

तर्कभाषाकार ने पाँच प्रकार के अयुतसिद्ध बतलाये हैं, जिनका परस्पर समवाय सम्बन्ध होता है—(1) अवयव तथा अवयवी (2) गुण तथा गुणी (3) क्रिया तथा क्रियावान् (4) जाति तथा व्यक्ति (5) नित्यद्रव्य तथा विशेष। 1. अवयव तन्तु तथा अवयवी पट को पृथक् नहीं किया जा सकता, अतः ये अयुतसिद्ध हैं। 2. इसी प्रकार घट (गुणी) पर घटरूप (गुण) आश्रित रहता है तथा इनका परस्पर समवाय सम्बन्ध है। ये भी पृथक् नहीं किये जा सकते। 3. क्रिया तथा क्रियावान् में क्रिया क्रियावान् पर आश्रित रहती है। यथा—गेंद की लुढ़कने की क्रिया को गेंद से अलग नहीं किया जा सकता है। कारण, इनमें समवाय सम्बन्ध है। 4. जाति, नित्य है तथा अविनश्यदवस्था में व्यक्ति में रहती है, क्योंकि व्यक्ति नाशवान् है और उसके नष्ट होने पर भी जाति नष्ट नहीं होती, अपितु निराश्रित होती है। अतः जाति व व्यक्ति भी अयुतसिद्ध हैं, समवाय सम्बन्ध होने से। 5 विशेष (जो वैशेषिक दर्शन का विशिष्ट पदार्थ है) तथा नित्य द्रव्य परमाणु आदि का भी समवाय सम्बन्ध है, क्योंकि विशेष को नित्य द्रव्य परमाणु आदि से पृथक् नहीं किया जा सकता। नित्य द्रव्य परमाणु आदि का अन्तिम भेदक धर्म विशेष नित्य द्रव्यों के कभी विनाश न होने से उनमें सदा रहता है और इसलिए नित्यद्रव्य व विशेष भी अयुतसिद्ध हैं। परस्पर अयुतसिद्ध होने से इनका समवाय सम्बन्ध है।

इस प्रकार अयुतसिद्ध की स्थिति समवाय सम्बन्ध पर ही निर्भर होती है।

बहुविकल्पीय प्रश्न :-

1. न्याय सम्मत प्रमाणों की संख्या है—

क) दो ख) चार ग) छः घ) आठ

उत्तर:— ख

2. न्याय दर्शन में मान्य पदार्थों की संख्या है—

- क) सात ख) नौ ग) सोलह घ) पच्चीस

उत्तर:— ग

3. हेत्वाभासों की संख्या है—

- क) आठ ख) पाँच ग) चार घ) दस

उत्तर—ख

4. असमवायिकारण किसमें रहता है—

- क) समवायिकारण में ख) निमित्तकारण में ग) दोनों में घ) किसी में नहीं

उत्तर—क

5. तर्कभाषा के अनुसार सम्बन्ध कितने प्रकार के होते हैं—

- क) दो ख) चार ग) छः घ) आठ

उत्तर:— क

6. अनुमान प्रमाण में अवयवों की संख्या है :—

- क) तीन ख) पाँच ग) सात घ) नौ

उत्तर— ख

7. न्याय दर्शन में इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष कितने प्रकार का है—

- क) दो ख) पाँच ग) छः घ) आठ

उत्तर :- ग

8. न्यायसूत्र के रचयिता हैं—

- क) गौतम ख) कपिल ग) कणाद घ) जैमिनि

उत्तर— क

9. समवाय का ग्रहण कराने वाला प्रमाण है—

- क) प्रत्यक्ष ख) अनुमान ग) शब्द घ) अर्थापत्ति

उत्तर— क

10. प्रामाण्यवाद का उल्लेख किसमें है—

- क) सांख्य ख) वेदान्त ग) न्याय घ) वैशेषिक

उत्तर :- ग

स्वयं अध्ययन सामग्री

पाठ्यक्रम	—	एम0ए0
वर्ष	—	पूर्वाद्ध
विषय	—	संस्कृत
प्रश्न पत्र	—	चतुर्थ
शीर्षक	—	दर्शन
इकाई	—	(2) सांख्यकारिका (ईश्वरकृष्ण कृत)
लेखिका	—	डॉ0 सुधा गुप्ता
सम्पादक	—	प्रो0 अशोक कुमार कालिया

मध्यप्रदेश भोज (मुक्त) विश्वविद्यालय, भोपाल

एम0ए0 (पूर्वाद्ध) संस्कृत

चतुर्थ प्रश्नपत्र—दर्शन

इकाई (2) सांख्यकारिका (ईश्वरकृष्णकृत)

(कारिकाओं की व्याख्या एवं समीक्षात्मक प्रश्न)

इकाई की रूपरेखा :—

- (2.0) उद्देश्य
- (2.1) प्रस्तावना
- (2.2) इकाई के शीर्षक का अर्थ
- (2.3) पाठ्यक्रम
- (2.4) सारांश
- (2.5) संदर्भित पुस्तकें
- (2.6) बोध प्रश्न
- (2.7) स्व परख प्रश्न/अभ्यास

(2.0) उद्देश्य :—

ईश्वरकृष्ण विरचित 'सांख्यकारिका' नामक इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् आप इस योग्य हो सकेंगे कि—

- आपके सभी प्रकार के दुःखों (आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक) की ऐकान्तिक (निश्चित रूप से) एवं आत्यन्तिक (अन्तिम रूप से) रूप से निवृत्ति का ज्ञान हो सके।
- प्रकृति के परिणाम अथवा क्रमिक विकास का ज्ञान प्राप्त कर सकें।
- प्रमाण मीमांसा, तत्त्व मीमांसा का सम्यक् ज्ञान प्राप्त कर सकें।
- पुरुष की अपने स्वरूप में अवस्थिति अर्थात् कैवल्य (मोक्ष) पद की प्राप्ति सम्भव हो सके।
- जड़ बुद्धि की वृत्तियों का सूक्ष्मातिसूक्ष्म ज्ञान हो सके। आदि

(2.1) प्रस्तावना :—

भारतीय आस्तिक दर्शनों में प्राचीनतम दर्शन 'सांख्य' का स्थान विशेष महत्त्वपूर्ण है। अधिकांश दर्शनों ने सांख्य के सिद्धान्तों को किसी न किसी रूप में अवश्य स्वीकार किया है। यही कारण है कि सांख्य अनेक दर्शनों का उपजीव्य दर्शन है। मनुस्मृति, महाभारत, रामायण और गीता आदि में प्राप्त इसके मूलतत्त्वों के उल्लेख से इसकी प्राचीनता का अनुमान लगाया जा सकता है। इतना ही नहीं उपनिषदों में भी कई स्थानों पर सांख्य प्रतिपादित सिद्धान्तों का वर्णन प्राप्त होता है। छान्दोग्योपनिषद् में सांख्य के सत्कार्यवाद का उल्लेख सर्वप्रथम कुछ इस प्रकार प्राप्त होता है—

‘सदेव सोम्येदमग्रमासीत् एकमेवाद्वितीयम्।’ तथा

कथमसतः सज्जायेतेति। आदि

श्वेताश्वतरोपनिषद् तो विद्वानों के मत में सांख्य—उपनिषद् ही है। इसको यह मन्त्र—

‘अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः।

अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः।। (4/5)

सांख्य की प्रकृति के तीनों गुणों तथा पुरुष से उसकी भिन्नता का सुन्दर निदर्शन है। इसके अतिरिक्त भी अन्य अनेक स्थल सांख्यमत का ही प्रतिपादन करते हुए दिखाई पड़ते हैं—

‘तत्कारणं सांख्ययोगाधिगम्यम्’— 6/3 तथा

‘मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।’ 4/10 आदि

कठोपनिषद् में भी अव्यक्त एवं पुरुष का वर्णन कुछ इस प्रकार प्राप्त होता है—

‘महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः।

पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परागतिः।। 1/3।।

भौतिक जगत की वैज्ञानिक व्याख्या भी सांख्य दर्शन के प्रकृति—परिणामवाद में स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। यद्यपि जैनियों तथा वैशेषिकों का परमाणुवाद भौतिक जगत की महत्त्वपूर्ण व्याख्या प्रस्तुत करता है, किन्तु सांख्य प्रकृति के क्रमिक विकास की जैसी वैज्ञानिक और तार्किक (बौद्धिक) व्याख्या प्रस्तुत करता है, वह परवर्ती दर्शनों के लिए अति महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ है। सांख्य की प्रकृति सत्, रज और तम की साम्यावस्था है, जिसके भंग होते ही सृष्टि—प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है। प्रकृति नितान्त सूक्ष्म होने से अव्यक्त है। इसी अव्यक्त का व्यक्त भाव सृष्टि है, जो प्रकृति से उद्भूत है। सांख्यानुसार व्यक्त 23 तत्त्व है। चौबीसवाँ तत्त्व प्रकृति अर्थात् अव्यक्त है। सांख्य प्रतिपादित पञ्चीसवाँ तत्त्व पुरुष अन्य दर्शनों में भी किसी न किसी रूप में कुछ—कुछ अन्तर के साथ स्वीकृत हुआ है। इस प्रकार सांख्य में कुल मिलाकर 25 तत्त्वों का विवेचन प्राप्त होता है।

(2.2) इकाई के शीर्षक का अर्थ—

महाभारत के अनुसार—

‘संख्यां प्रकुर्वते चैव प्रकृतिं च प्रचक्षते।

तत्त्वानि च चतुर्विंशत् तेन सांख्याः प्रकीर्तिताः।।’

‘संख्या’ शब्द से सम्बद्ध सांख्य दर्शन में प्रकृति और पुरुष दो मूलभूत तत्त्व हैं, जिनमें मूल प्रकृति और उसके विकार (23 तत्त्व) मिलकर 24 तत्त्व तथा 25वें तत्त्व पुरुष का समावेश है। इसके अतिरिक्त सम् उपसर्ग पूर्वक ख्याञ् धातु से सम्पन्न संख्या शब्द का अर्थ सम्यक् ज्ञान भी है। सांख्य दर्शन में प्रकृति और पुरुष के विवेक ज्ञान से कैवल्य अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति होती है। सम्यक् ज्ञान से कैवल्य पद प्राप्ति की मान्यता के कारण ही इसे ‘सांख्य’ कहा गया है। आदि शंकराचार्य विष्णुसहस्रनाम की टीका में लिखते हैं कि सांख्य से तात्पर्य विशुद्ध आत्मा के स्वरूप का ज्ञान है—

‘शुद्धात्मतत्त्वविज्ञानं सांख्यमित्यभिधीयते।’

हालकृत सांख्यसार के अनुसार सांख्य दर्शन का नाम इसके सर्वप्रथम संस्थापक ‘संख’ के नाम पर पड़ा। यद्यपि इसकी प्रमाणिकता में कोई ठोस साक्ष्य प्राप्त नहीं होते हैं। निष्कर्षतः यह मानना उचित होगा कि ‘संख्यान’ अथवा विवेकात्मक ज्ञान, जोकि सांख्य दर्शन की प्रमुख विशेषता है, के कारण ही यह दर्शन ‘सांख्य’ नाम से अभिहित किया गया। अपने सैद्धान्तिक अनुसंधानों से विश्व के तत्त्वों की विश्लेषणात्मक परिगणना इस दर्शन के नाम की सार्थकता सिद्ध करती है।

(2.3) पाठ्यक्रम : (कारिकाओं की व्याख्या)

1. प्रकरण : ‘नास्ति सांख्यसमं ज्ञानम्,’ भगवान श्रीकृष्ण द्वारा श्रीमद्भगवद्गीता में सांख्य प्रतिपादित ज्ञान की महत्ता बतलाए जाने पर स्वाभाविक जिज्ञासा होती है कि आखिर वह ज्ञान क्या है? प्रकृति और पुरुष का विवेकज्ञान ही सांख्य दर्शन का प्रमुख प्रतिपाद्य विषय है, जिसके जान लेने से त्रिविध दुःखों की निवृत्ति अवश्यम्भावी है। समस्त दर्शनों का जन्म दुःख निवारण के उपाय खोजने में ही सन्निहित है। ईश्वरकृष्ण ने तो अपनी सांख्यकारिका का शुभारम्भ ही दुःखनिवृत्ति के उपाय की जिज्ञासा प्रस्तुत करते हुए किया है, जो कि ग्रन्थ के विषय और प्रयोजन को भी स्पष्ट करता है। सांख्याकारिका की प्रथम कारिका में ईश्वरकृष्ण जी कहते हैं कि—

कारिका : दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदपघातके हेतौ।

दृष्टे साऽपार्था चेन्नैकान्तात्यन्ततोऽभावात् ॥१॥

अन्वय : दुःखत्रयाभिघातात् तदपघातके हेतौ जिज्ञासा (जायते) दृष्टे (उपाये सति) सा (जिज्ञासा) अपार्था चेत्, न (तेन दुःख निवृत्तेः) एकान्तात्यन्ततः अभावात्।

अर्थ : तीन प्रकार के दुःखों (आध्यात्मिक, आधिभौतिक एवं आधिदैविक) के आघात (प्रहार, चोट) से उनको दूर करने वाले उपाय (साधन) के सम्बन्ध में जिज्ञासा (उत्पन्न होती है)। लौकिक उपाय विद्यमान होने पर वह (उक्त जिज्ञासा) व्यर्थ है—ऐसा नहीं है, क्योंकि (लौकिक उपायों से) ऐकान्तिक (अनिवार्यतः) और आत्यन्तिक (पूर्णतः) अभाव (दुःखनिवृत्ति न होने से) नहीं होता है।

व्याख्या : तीन प्रकार के दुःखों के द्वारा निरन्तर जीवात्मा के पीड़ित रहने से उन दुःखत्रय की निवृत्ति के लिए जीवात्मा उपायों की खोज करता है। उपाय लौकिक और अलौकिक दोनों प्रकार के हैं, किन्तु इन उपायों से निश्चित रूपसे तथा हमेशा के लिए दुःखों से छुटकारा प्राप्त नहीं होता। दुःख बारम्बार मनुष्य को प्रताड़ित करते रहते हैं। अतः परिशेषन्याय (एकमात्र यही उपाय शेष बचने) से सांख्य प्रतिपादित उपाय ही दुःखनिवृत्ति का सर्वोत्कृष्ट साधन रह जाता है। कारण, दुःखत्रय की निवृत्ति यद्यपि लौकिक उपायों से भी हो जाती है, किन्तु कभी—कभी उपाय करने पर भी निवृत्ति सम्भव नहीं होती है और यदि हो भी जाती है तो वह जीवन भर के लिए नहीं होती है। अर्थात् लौकिक उपायों में ये दो दोष (निवृत्ति ऐकान्तिक और आत्यन्तिक रूप से न होना) रहते ही हैं।

विशेष:

1. सम्पूर्ण सांख्यकारिका में आर्या छन्द प्रयुक्त है, जो कि नितरां उपयुक्त है; क्योंकि आरयति प्ररेयति निवर्तयति दुःख याति गच्छति च आत्मज्ञानाभिमुखं यया इति आर्या—इस व्युत्पत्ति के अनुसार अथवा—आरात् =आत्मतत्त्वज्ञानस्य समीपे याति अनया इति आर्या—इस व्युत्पत्त्यानुसार भी आर्या छन्द ही सर्वथा उपयुक्त है।
2. दुःखत्रय से यहाँ तात्पर्य आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक दुःख प्रकारों से है। इनमें से आध्यात्मिक दुःख वात, पित्त और कफ के दोष से शरीर में उत्पन्न होते हैं और काम, क्रोध लोभ, मोह आदि के प्रभाव से मन में उत्पन्न होते हैं। आधिभौतिक दुःख अन्य भूत प्राणियों पशु—पक्षी, सर्प— विच्छू आदि से प्राप्त होते हैं। और आधिदैविक दुःख यक्ष—राक्षसे आदि देवों से प्राप्त होते हैं। अतिवृष्टि, अनावृष्टि आदि दुःख इसी आधिदैविक (देव विषयक) प्रकार के अन्तर्गत आते हैं।
3. अनुबन्ध चतुष्टय (अधिकारी विषय, सम्बन्ध और प्रयोजन) में से ग्रन्थकार ने 'जिज्ञासा तदपघातके हेतौ' के द्वारा ग्रन्थारम्भ में दुःखनिवृत्ति के उपाय जानने की इच्छा को ग्रन्थ रचना के परम प्रयोजन के रूप में स्पष्ट किया है। इस प्रयोजन में ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय 'दुःख निवृत्ति का उपाय' भी स्पष्ट है। निरन्तर अनुभूयमान दुःख को दूर करने का उपाय जानने की इच्छा वाला मननशील व्यक्ति ही इस ग्रन्थ के अध्ययन का अधिकारी है। ग्रन्थ के विषय और स्वयं ग्रन्थ में परस्पर प्रतिपाद्य प्रतिपादक भाव रूप में सम्बन्ध नामक अनुबन्ध भी जाना जा सकता है। इस प्रकार सांख्यकारिकाकार ने ग्रन्थारम्भ में अनुबन्ध चतुष्टय के निरूपण की परम्परा का निर्वाह भी इसी प्रथम कारिका में ही कर दिया है।
4. त्रिविध दुःख निवारणोपाय लोक में विद्यमान हैं। यथा—आध्यात्मिक दुःखों के दोनों ही प्रकार (शारीरिक और मानसिक) लौकिक उपचार से दूर हो जाते हैं। शारीरिक दुःख (व्याधि) औषधि, रसायन एवं शल्य क्रिया आदि से दूर किये जाते हैं तथा मानसिक दुःख (व्याधि) प्रियजन संयोग और अप्रियजन परिहार से दूर किये जाते हैं। आधिभौतिक दुःखों के कारण अन्य भूत प्राणियों से सुरक्षा के उपाय भी किये जाते हैं। आधिदैविक दुःख निवृत्ति के उपाय स्वरूप यज्ञ—यागादि, दान, जप, तप आदि भी किये जाते हैं। और इन सभी से दुःख निवृत्ति होती भी देखी जाती है। तब प्रश्न यह उठता है कि क्या इन दृष्ट उपायों के विद्यमान होने से सांख्याशास्त्र विषयक जिज्ञासा व्यर्थ (अपार्था) है। उत्तर है कि—नहीं। प्रत्यक्ष उपाय क्योंकि न तो ऐकान्तिक (अवश्यम्भावी) हैं और न ही आत्यन्तिक (सर्वदा के लिए) हैं।
5. दृष्ट उपाय दो प्रकार के दोषों से युक्त हैं— **अ)** औषधि आदि से हुई दुःख निवृत्ति आवश्यक नहीं कि अवश्य ही हो जाये। कभी दुःख का निवारण होता है, कभी नहीं भी होता है अर्थात् अन्त दोनों ही प्रकार का सम्भव है। इसीलिए यह दुःख निवृत्ति ऐकान्तिक न होकर अनैकान्तिक है, अनिश्चित है। **ब)** दूसरा दोष यह है कि लौकिक उपायों से दुःख निवृत्ति होने पर पुनः दुःख उत्पन्न हो जाता है। दुःख का अत्यन्त (पूर्णरूपेण) अन्त (समाप्ति) नहीं होता है। अतः इन दोनों दोषों वाले दृष्ट

उपायों का कोई भी विवेकी मुमुक्षु (मोक्ष की इच्छा वाला) आश्रय लेना नहीं चाहेगा। इस प्रकार सांख्य प्रतिपादित प्रकृति-पुरुष विवेक ज्ञान विषयक दुःख निवृत्ति के उपाय के प्रति जिज्ञासा व्यर्थ नहीं है।

6. सांख्यशास्त्र दुःखत्रय के विनाश का (अपघातक) हेतु है—

‘तदपघातके हेतौ’ अतएव बुद्धिमान, व्यक्ति की सांख्यदर्शन के अध्ययन में प्रवृत्ति स्वाभाविक है।

2. प्रकरण : लौकिक (दृष्ट) उपायों की भौति ही वैदिक (आनुश्रविक) उपाय भी ऐकान्तिक तथा आत्यन्तिक दुःख निवृत्ति करा सकने में सक्षम नहीं हैं क्योंकि वैदिक उपाय भी दोषयुक्त हैं। अतः सांख्यप्रतिपादित दुःख निवृत्ति के उपाय की जिज्ञासा स्वाभाविक है। क्योंकि—

कारिका : दृष्टवदानुश्रविकः स ह्यविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः।

तद्विपरीतः श्रेयान् व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात् ॥ 2 ॥

अन्वय : आनुश्रविकः (अपि) दृष्टवत् (वर्तते) हि स अविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः (अस्ति) तद् विपरीतः व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात् (हेतोः— सांख्याशास्त्रोक्तोपायः) श्रेयान्।

अर्थ : वैदिक उपाय भी लौकिक उपाय के समान ही (दुःख निवृत्ति में पूर्णरूपेण सक्षम नहीं) है क्योंकि वह (वैदिक उपाय) अविशुद्धि, क्षय (नाश) और अतिशय (न्यूनाधिक्यभाव) से युक्त है। इसके विपरीत (विशुद्ध, अविनाशी तथा निरातिशय) उपाय (सांख्योक्त) व्यक्त (महदादि विकार) अत्यक्त (प्रकृति) और ज्ञ (पुरुष) के विज्ञान (विवेकज्ञान) से होने वाला श्रेयस्कर है।

व्याख्या : दृष्ट (लौकिक, प्रत्यक्ष) उपायों की तरह ही आनुश्रविक (वैदिक) उपायों से भी ऐकान्तिक और आत्यन्तिक दुःखों की निवृत्ति नहीं हो सकती। कारण, वैदिक उपाय तीन दोषों से युक्त है—1. अविशुद्धि—यज्ञ रूप वैदिक उपाय यज्ञीय पशु हिंसा तथा तिल—तण्डुलादि बीज नाशक (आहुतियों द्वारा नष्ट किये जाने से) होने से विशुद्ध नहीं होते। 2. क्षय—वैदिक यागानुष्ठान से प्राप्त स्वर्गादि फल क्षयकारी अर्थात् नाशवान् होता है। जैसा कि गीता में कहा गया है कि **‘क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति’**। श्रीमदभगवद्गीता (9/21)। अतः इनसे भी दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति नहीं हो सकती। 3. अतिशययुक्त— वैदिक उपाय भी न्यूनाधिक्य रूप वैषम्य फल वाले हैं। छोटे-बड़े यज्ञों का फल भी हीन और श्रेष्ठ होगा। हीनता दुःख का कारण है। अतः दुःख निवृत्ति कहाँ? अतएव ये तीनों दोष वैदिक उपायों को भी दृष्ट उपायों की भौति दुःखत्रय के ऐकान्तिक और आत्यन्तिक निवृत्ति का साधन नहीं बना पाते।

इसके विपरीत सांख्योक्त उपाय अविशुद्धि रहित, क्षयरहित और अतिशय रहित है। इसीलिए यह वैदिक उपाय की अपेक्षा श्रेयस्कर है। कारण, प्रकृति-पुरुष का विवेक-ज्ञान हिंसादि अविशुद्धि से रहित है। विवेक ज्ञान के फलस्वरूप प्राप्त कैवल्य रूप दुःख निवृत्ति क्षयकारी भी नहीं है अर्थात् नष्ट नहीं होती और कैवल्य (केवल एक) पद द्वैत रहित है। अतः न्यूनाधिक्य सम्भव ही नहीं। फिर दुःख का कोई कारण ही नहीं।

विशेष :

1. आनुश्रविक से तात्पर्य यज्ञयागादि रूप स्वर्ग के साधनभूत वैदिक उपायों से है, क्योंकि "गुरुपाठादनूश्रवते इत्यनुश्रवो वेदः..... तत्र भवः आनुश्रविकः" अर्थात् जो गुरु पाठ से सुना जाता हो। किसी के द्वारा निर्मित न हो, उसे अनुश्रव कहते हैं और आनुश्रविक अनुश्रव सम्बन्धी (वैदिक) होने से यज्ञ आदि उपाय वाचक है।
2. दृष्ट (प्रत्यक्ष, लौकिक) उपायों की भाँति आनुश्रविक (वैदिक) उपाय भी ऐकान्तिक तथा आत्यन्तिक रूप से दुःखत्रय का निवारण नहीं कर सकते हैं।
3. वैदिक उपाय अशुद्धि, क्षय और अतिशय रूप तीनों दोषों से युक्त होते हैं; क्योंकि वेदोक्त यज्ञादि क्रियाएँ पशुहिंसा एवं यव-तिल आदि बीजों की नाशक होने से मलिन और हीन ही होती हैं; जिनका फल अविशुद्धि रूप पाप के कारण दुःखदायी ही होगा। यदि इच्छित फल प्राप्ति हो भी गयी तो पुण्य क्षीण होने पर उससे पुनः च्युत होना पड़ेगा, जो कि दुःख का ही हेतु है। यज्ञ छोटे व बड़े दोनों ही प्रकार के होते हैं। अतः फल भी न्यूनाधिक्य ही प्राप्त होगा। यही न्यूनाधिक्य रूप वैषम्य ही तो दुःख का मूल है। फिर दुःख नाश कहाँ? अतः इन दोनों (लौकिक और वैदिक) उपायों से भिन्न सांख्योक्त प्रकृति पुरुष विवेकज्ञान श्रेयस्कर है।
3. प्रकरण- कारिकाकार की दृष्टि में दुःखों की ऐकान्तिक तथा आत्यन्तिक निवृत्ति व्यक्त-अव्यक्त तथा ज्ञ के विवेकज्ञान से ही सम्भव है। प्रस्तुत कारिका में इनका निरूपण किया गया है-

कारिका : मूल प्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त ।

षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः ॥३॥

अन्वय : मूलप्रकृतिः अविकृतिः महदाद्याः सप्त प्रकृतिविकृतयः षोडशकः तु विकारः, पुरुषः न प्रकृतिः न विकृतिः ॥

अर्थ : मूल प्रकृति अविकृति है। महत् तत्त्वादि सप्त पदार्थ प्रकृति-विकृति हैं। सोलह पदार्थों का समुदाय विकार (विकृति) है। पुरुष न प्रकृति है न विकृति।

व्याख्या : प्रकृति अपने स्थूल कार्यो से व्यक्त हं अर्थात् अव्यक्त प्रकृति के कार्य व्यक्त हैं। यह व्यक्त प्रकृति-विकृति के रूप में सात तथा केवल विकृति रूप में षोडश समुदाय वाले है। सृष्टिगत प्रत्येक पदार्थ जो दृश्य है, उसका कोई न कोई कारण है और कारणभूत पदार्थ की अपेक्षा से ही कोई पदार्थ कार्य है। यथा काष्ठ की अपेक्षा से वृक्ष प्रकृति किन्तु मूलबीज की अपेक्षा से वृक्ष विकृति है। इसी प्रकार प्रस्तुत कारिका के अनुसार मूल तत्त्व प्रकृति के विकार (कार्य) स्वरूप महत् तत्त्व, अहंकार, पञ्च तन्मात्राएँ हैं तथा इन तन्मात्राओं से पञ्च महाभूतों की उत्पत्ति होती है अर्थात् परस्पर सापेक्ष रूप से उपादानकारण (प्रकृति) तथा उपादान कारणभूत (कार्य या विकार) का क्रम चलता रहता है। किन्तु, अन्ततः कोई तो कारण (प्रकृति) होगा, जिसका कोई कारण (प्रकृति) न हो और वहीं सांख्य के अनुसार मूल प्रकृति (यही जड़ तत्त्व) है। जबकि पुरुष प्रकृति (कारण) विकृति (कार्य) से रहित होते हुए भी (सांख्य के अनुसार किसी अन्य प्राकृतिक तत्त्व के ज्ञाता न होने से औपाधिक ज्ञानवश) ज्ञ (ज्ञाता) है (अर्थात् चित् तत्त्व है)।

विशेष :

1. प्रस्तुत कारिका में सांख्याभिमत जड़तत्त्व (प्रकृति) व चेतन तत्त्व (पुरुष) सहित 25 तत्त्वों को 4 श्रेणियों (मूल-प्रकृति, प्रकृति-विकृति, विकृति या विकार तथा न प्रकृति न विकृति) में विभाजित किया गया है।
2. सांख्याभिमत प्रकृति व पुरुष नित्य मूल होते हुए भी परस्पर भिन्न हैं-प्रकृति अर्थात् 'मूलप्रकृतिः'। पुरुष अर्थात् 'न प्रकृतिः न विकृतिः'।
4. **प्रकरण :** पूर्वोक्त 25 तत्त्वों की प्रामाणिकता को सिद्ध करने हेतु प्रमाणों का संक्षिप्त उल्लेख प्रस्तुत कारिका में किया गया है-

कारिका : दृष्टमनुमानमाप्तवचनं च सर्वप्रमाणसिद्धत्वात्।

त्रिविधं प्रमाणमिष्टं प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धिः ॥ 4 ॥

अन्वय : दृष्टम्, अनुमानम्, आप्तवचनम्, च, सर्वप्रमाणसिद्धत्वात्, त्रिविधम्, प्रमाणम्, इष्टम्, हि, प्रमेयसिद्धिः, प्रमाणात् (भवति)।

अर्थ : प्रत्यक्ष, अनुमान, आप्त वचन (प्रामाणिकों के वचन) अथवा शब्द नामक त्रिविध प्रमाण से सभी प्रमाणों के सिद्ध होने से (अर्थात् इनमें सभी प्रमाणों का अन्तर्भाव होने से ये) तीन प्रकार के प्रमाण ही अभीष्ट है। (क्योंकि) प्रमेय अर्थात् ज्ञेय पदार्थों के अस्तित्व की सिद्धि प्रमाणों से (ही होती है)।

व्याख्या : प्रत्येक दर्शन स्वमान्य प्रमाणों द्वारा अपने-अपने प्रमेयों की सिद्धि करते हैं। सांख्य चार्वाक (केवल प्रत्यक्ष प्रमाण मान्य), बौद्ध दर्शन (प्रत्यक्ष अनुमान दो प्रमाण मान्य) आदि से अधिक त्रिविध प्रमाणों (प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द) को अभीष्ट मानता है। सांख्यमत में अन्य (उपमान, अर्थापत्ति, अभाव, सम्भव और ऐतिह्य) प्रमाणों का इन त्रिविध प्रमाणों में अन्तर्भाव सम्भव है। प्रमाणों की आवश्यकता को कारिकाकार ने स्पष्ट किया है- 'प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धिः।' अर्थात् प्रमेय अथवा ज्ञेय विषयों की सिद्धि प्रमाण से ही सम्भव है।

विशेष : यद्यपि कारिकाकार ने प्रमाण का सामान्य लक्षण प्रस्तुत नहीं किया है, किन्तु सांख्यतत्त्व कौमुदीकार ने प्रस्तुत कारिका के 'प्रमाण' शब्द को लक्ष्य पद मानकर उसकी व्युत्पत्ति के अनुसार प्रमाण का सामान्य लक्षण बताया है कि प्रमाण वस्तु के विशुद्ध रूप का प्रतिबोधक है। इस व्युत्पत्ति के आधार पर 'प्रमाण' पद को लक्ष्य मान, इससे होने वाला विशुद्ध ज्ञान (प्रमा) प्रमाण का फल है और इस प्रमा का करण (साधन) प्रमाण है।

5. **प्रकरण-** पूर्वकारिकागत त्रिविध प्रमाणों का लक्षण इस प्रकार है-

कारिका : प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्टं त्रिविधमनुमानमाख्यातम्।

तल्लिङ्गलिङ्गिपूर्वकमाप्तश्रुतिराप्तवचनं तु ॥ 5 ॥

अन्वय : प्रतिविषयाध्यवसायः दृष्टम्, अनुमानम् त्रिविधम् आख्यातम्, तत् लिङ्गलिङ्गिपूर्वकम् (भवति), आप्तश्रुतिः तु आप्तवचनम्।

अर्थ :- प्रत्येक विषयों (प्रमेयों) से इन्द्रियों का होने वाला साक्षात् निश्चयात्मक ज्ञान रूप बुद्धि व्यापार दृष्ट (प्रत्यक्ष) प्रमाण तथा अनुमान त्रिविध कहा गया है। वह (अनुमान) लिंग-लिंगी ज्ञान पूर्वक होता है। यथार्थ वक्ता द्वारा यथार्थ कथन (प्रामाणिक शास्त्रों के श्रुत वचनार्थों का कथन) आप्तवचन (शब्द) है।

व्याख्या : प्रमाणशास्त्र न होने के कारण यहाँ त्रिविध प्रमाणों का संक्षिप्त लक्षण किया गया है—

1. प्रत्यक्ष : ज्ञानेन्द्रियों द्वारा अपने विषयों (शब्द, स्पर्श आदि) का होने वाला निश्चयात्मक ज्ञान प्रत्यक्ष (प्रमाण) है। यहाँ (सांख्य में) अन्तःकरणों व ज्ञानेन्द्रियों के संयुक्त व्यापारपूर्वक पुरुष (चित् तत्त्व) के आश्रयभूत होकर प्राप्त होने वाला निश्चयात्मक ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण है।

2. अनुमान : लिंग (हेतु) लिंगी (साध्य) ज्ञान से युक्त अर्थात् लिंग-लिंगी के साहचर्य सम्बन्ध पूर्वक निश्चयात्मक ज्ञान अनुमान है। कारिका में अनुमान को 'त्रिविधमनुमानमाख्यातम्' मात्र कहा गया है। प्रमाण शास्त्र (न्याय) व प्राचीनतम् ग्रन्थ न्यायसूत्र (1/1/5) में पूर्ववत् शेषवत् तथा सामान्यतोदृष्ट के रूप में अनुमान के तीन भेद बताये गये हैं। सम्भवतः कारिका का संकेत इसी ओर है।

3. आप्तवचन : यथार्थवक्ता किसी पुरुष, वेद अथवा शास्त्र वचनों को आप्तवचन अर्थात् शब्द प्रमाण कहते हैं।

विशेष : अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानं पूर्ववच्छेषवत् सामान्यतो दृष्टं च (न्या०सू० 1/1/5) के अनुसार त्रिविध अनुमान परिचय—

क) पूर्ववत् अनुमान— जहाँ लिंग लिंगी का व्याप्य-व्यापक भाव पूर्व में ही दृष्टिगत हो चुकता है। यथा पर्वतादि में धूम से अग्नि का अनुमान पूर्व में (पाकशाला आदि में) दृष्टिगत हो चुका होता है।

ख) शेषवत् अनुमान : इस अनुमान के साध्य-स्थल में एकमात्र पक्ष ही शेष रहता है। शेषवत् का अर्थ है—बचा हुआ। यथा—समुद्र के एक चुल्लू जल के खारेपन से शेष समुद्र के जल के खारेपन का अनुमान होना।

(ग) सामान्यतोदृष्ट अनुमान : लिंग द्वारा समानता के आधार पर किया गया अनुमान। यथा—एक आम्रवृक्ष की बौर देखकर समान रूप से (सामान्यतः) अन्य सभी आम्र वृक्षों पर बौर आने का अनुमान होना।

6. प्रकरण : जो वस्तु प्रत्यक्षगोचर नहीं, क्यों न उसका अभाव माना जाये अर्थात् प्रधान व पुरुष है भी या नहीं? शंकाकारों की यह शंका निर्मूल है; क्योंकि आठ कारण ऐसे हैं, जिनसे वस्तु का अस्तित्व होते हुए भी वह प्रत्यक्षगोचर नहीं होती है—

कारिका : अतिदूरात् सामीप्यादिन्द्रियघातान्मनोऽनवस्थानात् ।

सौक्ष्म्याद् व्यवधानादभिभवात् समानाभिहाराच्च ॥ 7 ॥

अन्वय : अतिदूरात्, सामीप्यात्, इन्द्रियघातात्, मनोऽनवस्थानात्, सौक्ष्म्यात् व्यवधानात्, अभिभवात् समानाभिहारात् च (सत् अपि वस्तु प्रत्यक्षतः उपलब्धम् न भवति)।

अर्थ : अति दूर से, समीपता से, इन्द्रियघात (नाश) से, मन के अव्यवस्थित (विकल) होने से, सूक्ष्मता से, व्यवधान से, अभिभव (दब जाने से), समरूप के मिश्रित होने से सत् होते हुए भी वस्तु प्रत्यक्ष उपलब्ध अथवा इन्द्रियगोचर नहीं होती है।

व्याख्या : अभाव उस वस्तु का होता है, जो प्रत्यक्ष योग्य होने पर भी होती ही नहीं, किन्तु प्रकृति, पुरुष प्रत्यक्ष योग्य ही नहीं। जगत् का कोई न कोई कर्ता तो अवश्य है एवं ज्ञानवान् का यह जानना सरल है कि कोई वस्तु अपने कारण के बिना उपलब्ध नहीं होती। चाहे वह कारण प्रत्यक्षगोचर हो अथवा न हो। इससे उस वस्तु का अभाव निश्चितरूपेण नहीं माना जा सकता। वस्तु की अनुपलब्धता की मिथ्या प्रतीति के कुछ हेतु इस प्रकार हैं—

1. **अतिदूरात्**— यथा—आकाश में बहुत दूर उड़ता पक्षी प्रत्यक्ष नहीं होता।
2. **सामीप्यात्**—अति समीपता के कारण आँख में लग अञ्जन उपलब्ध (प्रत्यक्ष) नहीं होता।
3. **इन्द्रियघातात्**—इन्द्रियदोष के कारण अर्थात् अन्धत्व या बधिरत्व आदि से उपलब्धि नहीं होती।
4. **मनोऽनवस्थानात्**— मनोविक्षिप्त अवस्था में। यथा—दुष्यन्त में लगा शकुन्तला का मन दुर्वासा की वाणी (शाप) नहीं सुन पाया।
5. **सौक्ष्म्यात्**— अति सूक्ष्मता से। यथा—सूक्ष्म कीटाणुओं व परमाणुओं का अप्रत्यक्षीकरण।
6. **व्यवधानात्**— रुकावट (पूर्ण आवरण) से। यथा—दीवार के पीछे की वस्तु का प्रत्यक्ष न हो पाना।
7. **अभिभवात्**—यथा—सूर्य के तेज प्रकाश से दिवस में तारागणों का न दिखना।
8. **समानाभिहरात्**—यथा—दुग्ध में दुग्ध तथा जल में जल का मिलना।

विशेष :

1. कारिका के च शब्द से (इसके अतिरिक्त भी) अन्य कारणों की भी पुष्टि होती है यथा अनुद्भूत कारण से भी अनुपलब्धि (प्रत्यक्ष नहीं) होती है। जैसे—दुग्ध में दधि का स्वरूप उद्भूत (उत्पन्न) न होने तक उपलब्ध नहीं होता है।

2. यद्यपि प्रकृति पुरुष प्रत्यक्ष (प्रमाण) गम्य नहीं, किन्तु इससे उनका अभाव नहीं माना जा सकता।

7. **प्रकरण :** पूर्वकथित कारणों में से प्रधान पुरुष के अप्रत्यक्ष होने में कौन सा कारण हैं? बताते हैं—

कारिका : **सौक्ष्म्यात्तदनुपलब्धिर्नाभावात्, कार्यतस्तदुपलब्धेः।**

महदादि तच्च कार्यं प्रकृतिसरूपं विरूपं च ॥ ४ ॥

अन्वय : तदनुपलब्धिः सौक्ष्म्यात्, अभावात् न, कार्यतः तदुपलब्धेः, तत् कार्यम् च महदादि, (यत्) प्रकृति सरूपम् विरूपम् च (अस्ति)।

अर्थ : उस (प्रधान) की अनुपलब्धता सूक्ष्मता से (है) अभाव से नहीं। कार्य से उसकी उपलब्धि होती है और उसके (प्रधान के) महत् तत्त्वादि कार्य (भिन्न) प्रकृति (प्रधान) के समरूप भी है और विषम (भिन्न) भी।

व्याख्या : कोई वस्तु अभाव या कतिपय (पूर्वकथित) कारणों से दिखाई नहीं देती। प्रधान के संदर्भ में अतिसूक्ष्मता ही वह कारण है, जिससे प्रकृति इन्द्रिगोचर नहीं होती। किन्तु, यह अनुपलब्धता उसका अभाव नहीं है। कैसे? यतः उसके कार्यों से उसकी उपलब्धता सुनिश्चित होती है (कार्य अर्थात् महत् तत्त्व, अहंकारादि), जो कुछ रूपों में प्रकृति के समान तो कुछ रूपों में असमान हैं। कार्य कारण से कुछ

समान तो कुछ भिन्न होता है। यदि वह समान हो तो कार्य कारण में अन्तर कैसा? कार्य से कारण की प्रतीति (सत्ता सिद्धि) होने के कारण यह (प्रधान) अनुमान (सामान्यतोदृष्ट) द्वारा बोधगम्य है।

विशेष : प्रकृति अपने कार्यों से अनुमान गम्य है। यहाँ कारिका में आया 'तत् पद' प्रधान का निर्देशक है।

8. प्रकरण : भारतीय दार्शनिकों के कार्य-कारण सिद्धान्त के भिन्न-भिन्न मत हैं, किन्तु उन मतों से प्रधान (प्रकृति) की सत्ता सिद्ध नहीं होती। अतः कारिका में इस उद्देश्य से सत्कार्यवाद का प्रतिपादन किया गया है—

कारिका : असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाभावात् ।

शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत् कार्यम् ॥ १॥

अन्वयः असदकरणात्, उपादानग्रहणात्, सर्वसम्भवाभावात्, शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावात् च कार्यम् सत् (अस्ति)।

अर्थ : असत् की उत्पत्ति न होने से, उपादान ग्रहण से, सर्वकारणों से सर्वकार्यों के उत्पन्न न होने से, समर्थ (कारण) के कार्य को उत्पन्न करने से, कार्य के कारण भावी होने से कार्य (कारण में पूर्व से ही विद्यमान होने के कारण) सत् होता है।

व्याख्या : सांख्य सत्कार्यवाद को मानता है अर्थात् कार्य सत् रूप में अपने कारण में अस्तित्वभूत होता है। इसकी सिद्धि के लिए—असत् करणात् अर्थात् असत् या अविद्यमान को उत्पन्न नहीं किया जा सकता। यथा—तिलों से तेल की प्राप्ति न की बालू से। उपादानग्रहणात् अर्थात् विशिष्ट कार्य की उत्पत्ति स्वरूप तत्सम्बद्ध विशिष्ट उपादान कारण को ग्रहण किया जाता है। यथा—तेल का उपादान तिल, दही का उपादान दूध है। सर्वसम्भवाभावात् अर्थात् किसी भी अपेक्षित कार्य को किसी से भी उत्पन्न नहीं किया जा सकता अथवा कार्य विशिष्ट का कारण विशिष्ट के साथ सत् सम्बन्ध आवश्यक है। शक्तस्य शक्यकरणात् अर्थात् किसी कार्य को उत्पन्न करने की शक्ति से समर्थ कारण ही शक्य अर्थात् उस कार्य को उत्पन्न कर सकता है। यथा— मिट्टी से घट की संरचना, बालू से नहीं। कारणभावात्—कार्य—कारणात्मक अथवा कारण—सापेक्ष होता है। कारण से कार्य उत्पन्न होता है। कार्य है तो उसका कोई न कोई कारण भी होगा। कारण का विकसित रूप कार्य है। कार्य अपने अविकसित रूप में कारण है—आदि हेतुओं को प्रस्तुत किया गया है। यही सांख्य सम्मत सत्कार्यवाद है, जिसके अनुसार कारण में कार्य सत् है।

विशेष :

क) बौद्धदर्शन असत् से सत् की उत्पत्ति मानता है। वेदान्त की दृष्टि में सत् में असत् का प्रतिभास (विवर्त) मात्र होता है नैयायिकों ने सत् से असत् कार्यों की उत्पत्ति मानी है, किन्तु सांख्य सत् से सत् की उत्पत्ति स्वीकार करता है।

ख) सत्कार्यवाद कारणवाद का एक स्वरूप है, जिसे सांख्य, ब्रह्मसूत्र एवं कुछ अन्य वैष्णव वेदान्त आदि दर्शनों ने स्वीकार किया है।

ग) कारणवाद का एक दूसरा स्वरूप असत्कार्यवाद है, जिसे न्याय-वैशेषिक आदि दर्शनों ने स्वीकार किया है।

घ) सत्कार्यवाद के साथ परिणामवाद अनिवार्यतः सम्बन्धित है। परिणामवाद को विकारवाद भी कहा गया है।

समभाव—श्रीमद्भगवद्गीता के अनुसार भी—

‘नासतो विद्यते भावो, नाभावो विद्यते सतः।’

प्रकरण: विवेकज्ञान हेतु आवश्यक प्रकृति के दोनों रूप (व्यक्त व अव्यक्त) परस्पर सम व विषम विशेषताओं वाले हैं, यहाँ भिन्न विशेषताओं का निरूपण है—

कारिका : हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिंगम्।

सावयवं परतन्त्रं व्यक्तं विपरीतमव्यक्तम् ॥ 10 ॥

अन्वय : व्यक्तम् हेतुमत्, अनित्यम् अव्यापि, सक्रियम्, अनेकम्, आश्रितम् लिंगम्, सावयवम्, परतन्त्रम् (अस्ति), अव्यक्तम् विपरीतम् (अस्ति)।

अर्थ : महत् आदि व्यक्त कार्य (अपने) कारण से युक्त, विनाशशील, सर्वत्र व्याप्त न रहने वाले, क्रियायुक्त, अनेक, अपने कारण पर आश्रित, मूल कारण के सूचक, अवयवों वाले, परतन्त्र रहने वाले हैं, जबकि अव्यक्त अथवा प्रधान (प्रकृति) इससे (व्यक्त से) विपरीत (विशेषताओं से युक्त) है।

व्याख्या : व्यक्त होने वाले मानव, पशु, पक्षी आदि सभी में उपर्युक्त ये विशेषताएँ घटित होती हैं। यथा—घट मृत्तिका (कारण) से उत्पन्न होने से हेतुमत् है। वह (घट) सत् होते हुए भी पूर्व में मृत्तिका ही था अर्थात् उत्पन्न होने से वर्तमान रूप (घट) की प्राप्ति हुयी, आगे भी वह इस रूप में नहीं रहेगा। अतः अनित्य है। व्यक्त किसी समयानुरूप देश-स्थल विशेष सीमाओं में बँधा होता है। वह सर्वत्र नहीं हो सकता। अतः वह अव्यापि है। व्यक्त सक्रिय भी है। व्यक्तत्व का जन्म लेना व विनष्ट होना क्रम चलता रहता है। प्रकृति में क्षोभ रूप में क्रिया होती है। ये व्यक्त संख्या में अनेक (तेइस) हैं। अपने कारण पर अवलम्बित तथा प्रधान की अनुमान (प्रमाण) से सिद्धि की अवस्था में उसके सूचक (ज्ञापक, लिंग) भी हैं। व्यक्त होने के कारण ये अवयवों (हिस्सों) वाले हैं और अपने कार्य की उत्पत्ति में अपने कारण की सहायता लेने से परतन्त्र भी हैं; जबकि अव्यक्त मूल कारण होने से अहेतुमत् नित्य, व्यापक, क्रियाहीन, एक, अनाश्रित, अलिंग, निरवयव तथा स्वतन्त्र है।

विशेष : अव्यक्त प्रधान व्यक्त के उपरोक्त रूपों से विपरीत है। (1) किसी से उत्पन्न न होने के कारण अहेतुमत् (2) इसी कारण नित्य (3) सर्वगत होने से व्यापी या व्यापक (4) सर्वगत होने से क्रियाहीन है, क्योंकि ‘त्रिषु लोकेषु स्थितत्वान्न संसरति। न पुनः क्रियैव नास्तीति निष्क्रियम तस्य जगत्कर्तृत्वात्।’ (5) मूल कारण होने से एक (6) किसी का कार्य न होने से अनाश्रित (7) मूल कारण होने से अलिंग (8)

अव्यक्त प्रधान के सदृश उसके अंग या प्रकार न होने से निरवयव (9) तथा स्वयं समर्थ होने से स्वतन्त्र है अर्थात् व्यक्त प्रधान से इन-इन रूपों में भिन्न है।

10. प्रकरण : अव्यक्त, व्यक्त की परस्पर भिन्न विशेषताओं के उल्लेख के पश्चात् परस्पर सम विशेषताओं का निरूपण करते हुए कारिकाकार पुरुष को इन विशेषताओं से पृथक् होते हुए भी कुछ बातों में समान भी बताते हैं।

कारिका : त्रिगुणमविवेकि विषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि ।

व्यक्तं तथा प्रधानं तद्विपरीतस्तथा च पुमान् ॥११॥

अन्वय : व्यक्तम् तथा प्रधानम् त्रिगुणम्, अविवेकि, विषयः, सामान्यम्, अचेतनम्, प्रसवधर्मि (स्तः), पुमान् तद्विपरीतः तथा च (अस्ति) ।

अर्थ : व्यक्त तथा प्रधान (अव्यक्त) त्रिगुण, अविविक्त, विषय (प्रमेय), सामान्य, जड़, प्रसवधर्म युक्त हैं। पुरुष इससे (इन विशेषताओं से) विपरीत है तथा वैसा भी है अर्थात् व्यक्त अव्यक्त के जैसा भी है।

व्याख्या : अव्यक्त सत्त्व, रजस् एवं तमस् इन तीन गुणों से युक्त है। अतः अव्यक्त के परिणामरूप व्यक्त में भी इन त्रिविध गुणों की प्राप्ति है। सांख्य के अनुसार ये त्रिगुण अव्यक्त के धर्म नहीं अपितु तद्रूप हैं—‘सत्त्वादीनामतद्धर्मत्वं तद्रूपत्वात्’—सां०सू०, 6/39 अर्थात् सत्त्व, रजस व तमस् अव्यक्त व व्यक्त के स्वरूप में निहित हैं, जिन्हे विविक्त नहीं किया जा सकता अर्थात् व्यक्त-अव्यक्त दोनों ही भेदक ज्ञानाभाव वाले अथवा अविवेकि स्वरूप वाले हैं दोनों ही प्रमेय रूप या ज्ञान के विषय हैं। अनेकों द्वारा ज्ञान का विषय होने से सामान्य भी हैं। जड़ अव्यक्त का परिणामस्वरूप व्यक्त भी जड़ ही है। दोनों ही विकार वाले हैं। अव्यक्त से महदादि व्यक्त पदार्थों का तथा महदादि व्यक्त पदार्थों से अन्य व्यक्त पदार्थों का उद्भव होते रहने से दोनों ही प्रसव धर्म वाले भी हैं।

किन्तु, पुरुष इनके विपरीत निर्गुण, विविक्त, प्रमेय न होकर विषय-ज्ञान का अनुभव प्राप्त करने वाला, विशिष्ट, चित् तत्त्व होने के कारण चेतन, तथा निर्विकार है। इस प्रकार पुरुष इन रूपों में व्यक्ताव्यक्त से विपरीत है। किन्तु, अहेतुमत्त्वादि (अव्यक्त की कुछ पूर्वोक्त विशेषताओं) से युक्त तथा व्यक्त के समान अनेक भी है। इसीलिए कारिका में पुरुष को ‘तद्विपरीतस्तथा च पुमान्’ कहा गया है।

विशेष :

त्रिगुणः—सुख, दुःख तथा मोह स्वभाव वाले, प्रकाश-प्रवृत्ति नियमन कार्य वाले है। सत्त्व लघु (हल्का) अतः प्रकाशक, रजस् क्रियाशील होने से प्रवर्तक, तमस् गुरु (भारी) होने से अवरोधक है। इनमें परस्पर एक दूसरे का अभिभव करने, आश्रय बनने, उद्भव करने तथा मिलकर कार्य करने की वृत्ति दीपक के समान हैं— ‘प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः’ ।

(2.4) सारांश :-

(2.4.1) सांख्यकारिका की विषयवस्तु :- ईश्वरकृष्ण विरचित सांख्यकारिका 'निरीश्वर सांख्य' का एक प्रकरण ग्रन्थ है, जिसे प्रमेयों की विस्तृत चर्चा करने के कारण प्रमेयशास्त्र भी माना जाता है।

रचना का मूल उद्देश्य दुःखों (दुःखत्रयाभिघातात्) की ऐकान्तिक व आत्यन्तिक निवृत्ति है, जो प्रत्यक्षगोचर व वैदिक उपायों से नहीं होता। सांख्य प्रतिपादित प्रकृति और पुरुष का विवेकज्ञान एकमात्र दुःखों की निवृत्ति का उपाय है। प्रधान प्रकृति सहित 25 तत्त्वों का निरूपण सांख्य में चार श्रेणियों में विभक्त (कारिका 3) किया गया है— प्रकृति, प्रकृति-विकृति, विकृति, न प्रकृति न विकृति। सांख्य एक प्रमेयशास्त्र है, अतः उसमें पूर्वोक्त (25) तत्त्वों की सिद्धि हेतु त्रिविध प्रमाणों (दृष्टमनुमानमाप्तवचनं च सर्वप्रमाणसिद्धत्वात्। त्रिविधं प्रमाणमिष्टम्) के लक्षणों तथा प्रमेयानुसार प्रमाणों की उपयोगिता व आवश्यकता को स्पष्ट किया गया है।

प्रकृति या प्रधान के स्वरूप विश्लेषण हेतु सत्कार्यवाद का प्रतिपादन किया गया है। प्रकृति के दो रूप—व्यक्त (विकृति) व अव्यक्त (मूल प्रकृति) का साम्य व वैषम्य बताते हुए इनसे पुरुष के साम्य वैषम्य की भी चर्चा है। त्रिगुणात्मक प्रकृति के कार्य (व्यक्त) की विशिष्टताओं के आधार पर कारण (अव्यक्त) की विशेषताएँ भी सिद्ध की गयी हैं। मूल प्रकृति, पुरुष की सत्ता सिद्धि के साथ पुरुष का बहुत्ववाद, स्वभावगत विशेषताएँ, प्रकृति-पुरुष संयोग तथा विशेषताएँ; संयोग का प्रयोजन (जगत्-सृष्टि); सृष्टि-क्रम का वर्णन, जहाँ सर्वप्रथम महत् तत्त्व-लक्षण, उत्तरोत्तर अहंकार लक्षण, ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ, मन-लक्षण, इन्द्रियों की विशेषताएँ, अन्तःकारणों (बुद्धि अहंकार व मन) की सामान्य व विशिष्ट वृत्तियों आदि का प्रमेय-विवेचन किया गया है। त्रिविध प्रमुख अन्तःकरणों में बुद्धि की श्रेष्ठता स्वीकार करते हुए सभी बाह्यकरण, शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध इति पंचतन्मात्राएँ 'अविशेष' अभिधेयसे तथा तदुद्भूत पंच महाभूत 'विशेष' संज्ञासे अभिहित हैं और उनका भेद भी वर्णित है।

सूक्ष्मशरीर (तन्मात्रा आदि) का स्वरूप-लक्षण, धर्मादि बुद्धि के भावों के भेद-प्रभेद तथा कलल (रजस् व वीर्य का मिश्रण) आदि भावों का आश्रय, धर्मादिभावों से ऊर्ध्वगमनादि फल-प्राप्ति, इन धर्मादि भावों तथा लिंग शरीर (सूक्ष्म शरीर) का परस्पर सम्बन्ध, भौतिक सृष्टि, उसके भेद तथा गुण सम्बन्धी विशेषताएँ, जगत् में पुरुष के दुःखानुभव कारण को भी स्पष्ट किया गया है।

प्राकृतिक जगत्-सृष्टि में अव्यक्त (जड़-प्रकृति) की प्रवृत्ति का अवधारण, प्रकृति का पुरुष से निवृत्त होना, प्रकृति का स्वयं को स्वतः बद्ध-मुक्तभाव से युक्त करना, तत्त्वज्ञान स्वरूप विमर्श, विवेकज्ञानोपरान्त प्रकृति का चेतन (पुरुष) के प्रति सृष्टि कार्य का अवरुद्ध करना आदि बड़े ही तर्कपूर्ण ढंग से प्रस्तुत किया गया है।

अन्ततः विवेकज्ञानी पुरुष अपने प्रारब्ध कर्मों की समाप्ति तक उसे भोगता हुआ वर्तमान स्थूल शरीर से युक्त रहता है और इस शरीर के विनष्ट होते ही उसके ऐकान्तिक व आत्यान्तिक दुःखों की निवृत्ति होने से उसे कैवल्य (मोक्ष) की प्राप्ति हो जाती है।

(2.4.2) सांख्याभिमत प्रमाण विवेचन अथवा प्रमाण मीमांसाः— सभी अपने अपने विषयों के प्रतिपादनार्थ स्वाभिमत प्रमाणों की संख्या स्वीकार करते हैं यथा—

‘प्रत्यक्षमात्रं चार्वाका बौद्धा वैशेषिकाद्वयम्।

सांख्या योगस्त्रयं चैव तार्किकाश्च चतुष्टयम्॥

पंच प्राभाकरा, भाट्टस्तथावेदान्तिनश्चषट्।

पौराणिकास्तथा चाष्टौ प्रमाणानि ब्रुवन्ति वै॥

सांख्य को प्रत्यक्ष—अनुमान व शब्द ये त्रिविध प्रमाण इष्ट हैं। सांख्य दर्शन के अनुसार, चार्वाक, बौद्ध द्वारा प्रयुक्त प्रमाण विषय—सिद्धि में अपूर्ण होने से तथा शेष अन्य दर्शनों द्वारा माने गये अतिरिक्त प्रमाणों का इन्हीं तीन (प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द) में अन्तर्भाव सम्भव होने से विषय—प्रतिपादनार्थ तीन प्रमाण ही अभीष्ट हैं। इन्द्रियगोचर प्रमेयों की सिद्धि प्रत्यक्ष प्रमाण से सम्भव हैं— (प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्टम्—का10 5)। अतीन्द्रिय विषयों हेतु अनुमान प्रमाण तथा अनुमान से भी असिद्ध विषयों का ज्ञान आगम अथवा शब्द प्रमाण से होता है। सांख्यसम्मत त्रिविध प्रमाणों का स्वरूप इस प्रकार है—

(2.4.2.1) प्रत्यक्ष प्रमाण : ‘प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्टम्’ अर्थात् प्रत्येक विषय का ज्ञान (अध्यवसाय) ही प्रत्यक्ष—प्रमाण है। इसमें अन्तःकरणों (बुद्धि—अहंकार, मन) व ज्ञानेन्द्रियों का संयुक्त व्यापार आवश्यक है। यथा—घट पदार्थ ज्ञान में चक्षु (ज्ञानेन्द्रिय) तथा मन, अहंकार की संयुक्त क्रियाशीलता के फलस्वरूप बुद्धि पदार्थ का स्वरूप धारण करती है, किन्तु जड़ होने के कारण (प्रकृति चूँकि जड़ है उससे उत्पन्न बुद्धि भी जड़ है) चैतन्य पुरुष से चित् प्रतिबिम्बित हो घट पदार्थ का ज्ञान (प्रमा) कराती हैं— ‘बुद्धितस्थचिदाभासौ द्वावपिव्याप्नुतौ घटम्। तत्रज्ञान धिया नश्येदाभासेन घटः स्फुरेत॥’ पञ्चदशी। यही प्रत्यक्ष प्रमाण है इस प्रकार चित् प्रतिबिम्बित बुद्धिस्थ विषय या पदार्थ ज्ञान के फलस्वरूप पुरुष का जो बोध है, वहीं चित्तवृत्ति का फल है। न्याय की भाँति सांख्य प्रत्यक्ष (प्रमाण) को इन्द्रिय रूप न मानकर ज्ञान रूप मानता है। कैसे? ‘अयं घटः’ इति प्रत्यक्ष प्रमा (ज्ञान) को न्यायशास्त्र में व्यवसायात्मक ज्ञान तथा ‘अहं घटज्ञानवान्’ इति अनुभव—ज्ञान को अनुव्यवसायात्मक ज्ञान कहा गया है। किन्तु, सांख्य ने व्यवसायात्मक ज्ञान को प्रत्यक्ष—प्रमाण तथा अनुव्यवसायात्मक ज्ञान को प्रत्यक्ष प्रमा माना है।

(2.4.2.2) अनुमान प्रमाण : लिंग—लिंगी के साहचर्य सम्बन्ध पूर्वक निश्चयात्मक ज्ञान ‘अनुमान’ है। अतीन्द्रिय विषयों का ज्ञान—अनुमान प्रमाण से होता है। अनुमान प्रमाण दो भागों में विभक्त है—वीत अर्थात् अन्वयी, अवीत अर्थात् व्यतिरेकी। व्याप्ति दो प्रकार की होती है— 1. अन्वय व्याप्ति—यथा—यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्राग्निः। 2. व्यतिरेक व्याप्ति—यथा— यत्र यत्र अग्न्याभावः तत्र तत्र धूमाभावः। पूर्ण विशुद्ध व्याप्ति

अन्वय—व्यतिरेकी दोनों प्रकार की बनने पर होती है। अन्यथा तो केवलान्वयी या केवलव्यतिरेकी ही होती है। व्याप्ति का ग्रहण भूयः सहचार दर्शन से होता है। इसी व्याप्ति के बल से जो अर्थ का बोधक होता है, उसे लिंग कहते हैं—

‘लीनम् अप्रत्यक्षं अर्थं गमयति इति लिंगम्’

यह अनुमान प्रमाण तीन प्रकार का होता है— पूर्ववत्, सामान्यतोदृष्ट तथा शेषवत्। इनमें से पूर्व दो अन्वयात्मक तथा शेष एक व्यतिरेकी है।

पूर्ववत् अनुमान :—यहाँ कारण से (लिंग) से कार्य (लिंगी) का अनुमान (ज्ञान) किया जाता है, जो कि पूर्व में बहुशः दृष्ट हो चुका होता है। यथा—पर्वतादि में धूम (लिंग) से अग्नि (लिंगी) का अनुमान। यहाँ लिंग व उससे लिंगी का व्याप्त होना पूर्व में अनेकशः पाकशाला में देखा जा चुका होता है।

सामान्यतोदृष्ट अनुमान :— सामान्यतोदृष्ट अनुमान में पूर्ववत् अनुमान की भाँति साध्य (विषय) विशिष्ट रूप में दृश्य न होकर सामान्य रूप में दृश्यमान होता है। यथा—पञ्च घट दर्शन से छठे अदृष्ट घट का उन्हीं पाँच घड़ों के समान होने का अनुमान।

शेषवत् अनुमान :— कार्य से कारण का अनुमान। यथा—जीवित शरीर आत्मायुक्त हैं, क्योंकि प्राणादि से युक्त है। इस अनुमान में लिंग लिंगी के द्वारा केवल व्यतिरेक रूप में व्याप्त होता है। इससे साध्यस्थल में एकमात्र पक्ष ही शेष रहता है। पूर्वोक्त उदाहरण में जीवित शरीर परिणाम (कार्य) है, जबकि प्राणादि से युक्त होना उसका कारण। सामान्यतः एक चुल्लू समुद्र के जल से शेष समुद्र के जल के खारेपन का अनुमान शेषवत् अनुमान है।

(2.4.2.3) शब्द प्रमाण :— अनुमान से भी असिद्ध विषयों की सिद्धि हेतु आगम या शब्द प्रमाण को ग्रहण किया गया है। सांख्य के अनुसार— ‘आप्तश्रुतिराप्तवचनम्’ अर्थात् आप्त (स्वतः प्रामाणिक यथा—वेदवाक्य) व्यक्ति या शास्त्र के श्रुत प्रामाणिक वचन के आधार पर प्राप्त ज्ञान शब्द प्रमाण है तथा इसके उपरान्त ‘एतद्वाक्यार्थज्ञानवानहम्’ के रूप में पुरुष को होने वाला (जैसा कि प्रत्यक्ष प्रमाण में बताया गया) अनुव्यवसायात्मक ज्ञान शब्द प्रमाण का फल है।

(2.4.3) सांख्याभिमत तत्त्व—विवेचन अथवा तत्त्व—मीमांसा :— सांख्यदर्शन सृष्टि के विकासवादी दृष्टिकोण को प्रस्तुत करता है। यहाँ त्रिगुणात्मक (सत्त्व, रजस्, तमस्) प्रकृति जगत का मूल कारण है। प्रकृतिगत इन तीनों गुणों की अपनी पृथक्—पृथक् विशेषताएँ होने पर भी साम्यावस्था में ये प्रकृति कहलाते हैं— ‘सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः’ साम्यावस्था में ये अपने मूल कारण (प्रकृति) में लीन रहते हैं, किन्तु इनका विक्रोभ प्रकृति में विकार उत्पन्न करता है, जो कि सांख्याभिमत सृष्टि—विकास क्रम का प्रारम्भ है।

साम्यावस्था को प्राप्त गुणत्रयात्मक प्रकृति अनुमान प्रमाण द्वारा अनुगम्य है, जो निरीश्वर सांख्य के दो प्रधान तत्त्वों (जड़, चेतन) में से एक है। सृष्टि कार्य की प्रेरणा जड़ प्रकृति को चेतन पुरुष से प्राप्त होती है, क्योंकि बिना प्रेरक तत्त्व (पुरुष) के जगत—सृष्टि रूपी कार्य प्रारम्भ ही नहीं हो सकता।

अतः जगत जड़-चेतन के संयोग का परिणाम है। प्रकृति द्वारा पुरुष को अपने वास्तविक रूप का दर्शन करा देना ही कैवल्य प्राप्ति का हेतु है और यही सांख्य का लक्ष्य (साध्य) है। इस प्रकार सांख्य के प्रमुख प्रमेय विषय प्रकृति व पुरुष हैं, और विकृति, बन्ध, मोक्ष आदि विषय भी इन दोनों से किसी न किसी तरह सम्बद्ध होने के कारण प्रमेय हैं। मूल तत्त्व (प्रकृति व पुरुष) का न तो कोई कारण है और न ही ये परस्पर कारण है। इसीलिए मूलतत्त्व होते हुए भी प्रकृति-पुरुष में अन्तर है-

(2.4.3.1) प्रकृति : प्रकृति मूलप्रकृति तथा विकारशील होने से विकृति भी हैं। सांख्य के अनुसार प्रकृति की विकृतियाँ अनेक नहीं मात्र 23 हैं, जिनमें अन्य विकृतियों का अन्तर्भाव हुआ है। ये 23 विकृतियाँ इस प्रकार हैं:-

1. महत् तत्त्व (बुद्धि) 2. अहंकार 3. मन 4. पञ्च वन्मात्राएँ- i) शब्द ii) स्पर्श iii) रूप vi) रस v) गंध। 5. पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ- i) श्रोत्र ii) त्वक् iii) चक्षु vi) जिह्वा v) नासिका 6. पञ्च कमेन्द्रियाँ- i) वाक् ii) पाणि iii) पाद vi) पायु या गुदा v) उपस्थ या जननेन्द्रिय 7. पञ्च महाभूत- i) आकाश ii) वायु iii) अग्नि vi) जल v) पृथ्वी सहित निरीश्वर सांख्य इन्हीं 23 तत्त्वों तथा प्रकृति और पुरुष सहित 25 तत्त्वों का विवेचन प्रस्तुत करता है।

मूल प्रकृति का व्यक्त रूप ही उसकी विकृति हैं। मूलतः एक होते हुए भी प्रकृति, विकृति में मात्र इतना ही अन्तर है कि प्रकृति की स्वाभाविक अवस्था प्रकृति तथा विकृतावस्था विकृति है, जो अन्ततः प्रकृति में विलीन हो अपनी स्वाभाविक अवस्था को प्राप्त करती है। इस प्रकार विकृति अपने कारण (प्रकृति) में अपनी उत्पत्ति से पूर्व भी (कारण रूप में) सत् है। यही सत्कार्यवाद है, जिसके साथ परिणामवाद सम्बद्ध है। परिणामवाद अर्थात् कार्य अपने कारण का परिणाम है। प्रकृति की परिणामशीलता कुछ इस प्रकार है-

1. जब गुण अपने-अपने रूप में ही स्थित होते हैं तब प्रकृति अव्यक्त व निष्क्रिय होती है अर्थात् गुणों का सम-परिणाम।
2. जब गुण व्यवहृत होते हैं तब एक दूसरे को दबाकर उद्भव या आविर्भाव करके या परस्पर आश्रय बनके अर्थात् कभी किसी गुण-धर्म की प्रधानता तो कभी किसी अन्य की प्रधानता से व्यवहार करते हैं। वस्तुतः ये ही अव्यक्त के व्यक्त होने का मूल कारण होते हैं।

प्रकृति, विकृति कुछ रूपों में समान तथा कुछ रूपों में परस्पर असमान भी है-

समानता-प्रकृति-विकृति दोनों ही त्रिगुणात्मक, अविविक्त, विषय (प्रमेय) सामान्य, अचेतन व विकारशील है।

असमानता-

प्रकृति अहेतुमान (कारण रहित) नित्य, व्यापक, निष्क्रिय, एक, अनाश्रित, अलिंग, निरवयव और स्वतन्त्र है।

विकृति—हेतुमान (कारण सहित) अनित्य, अव्यापक, सक्रिय, अनेक, आश्रित, लिंग, सावयव और परतन्त्र है।

गुणों की साम्यवस्था को प्रकृति बताया गया है। यह प्रकृति सुख—दुःख मोहात्मक है। ये तीनों गुण (सत्त्व—प्रीतिपूर्ण या सुखरूप, रजस—अप्रीतियुक्त या दुःखरूप तमस्— विषाद या मोह) क्रमशः प्रकाशन (लघु या हल्का होने के कारण); प्रवर्तन (क्रियाशील होने के कारण) और नियन्त्रण (भारी होने से) कार्य करते हैं। इस प्रकार प्रकृति के व्यक्त रूप (कार्य) इस गुण—धर्म आधार पर जैसे होते हैं, इनसे संयुक्त अव्यक्त भी वैसा ही (व्यक्त जैसा ही) माना जाना चाहिए। किन्तु जगत—पदार्थों की सीमाबद्धता उन्हें प्रकृति (अव्यक्त) से भिन्न करती है; क्योंकि वे (व्यक्त पदार्थ) अन्य कार्यों के कारण होते हुए भी मूल कारण नहीं है।

(2.4.3.2) पुरुष : निर्गुण, असंकीर्ण, अविषय, विशिष्ट, चित्, निर्विकार पुरुष, उदासीन, साक्षी, दृष्टा, अकर्ता, दुःखरहित, केवल, भोक्ता है। किन्तु, कतिपय रूपों में प्रकृति—पुरुष में समानताएँ भी हैं यथा—दोनों ही मूलतत्त्व अहेतमत, नित्य, व्यापक, अलिंग, निरवयव तथा स्वतन्त्र हैं।

प्रलयावस्था में प्रकृति—पुरुष का परस्पर संसर्ग ही जगत—सृष्टि का कारण है। यद्यपि पुरुष निर्गुण, निष्क्रिय आदि होते हुए भी कर्ता, भोक्ता, ज्ञाता कहा गया है। वह जड़ प्रकृति की अपेक्षा चेतन है व संसर्ग की दशा में परस्पर पड़ने वाले छाया प्रतिबिम्ब से दोनों की विशेषताएँ एक दूसरे में भासित होने लगती हैं। इस प्रकार चेतना का मूल स्रोत होने के कारण चेतन पुरुष कर्ता, दृष्टा व भोक्ता प्रतीत होने लगता है। बुद्धि जब किसी पदार्थ का स्वरूप धारण करती है, तो चित् पुरुष से चैतन्यता प्राप्त कर ही वह (बुद्धि) सक्रिय हो पदार्थ का ज्ञान कराती है; किन्तु बुद्धि की सक्रियता वस्तुतः तो पुरुष के चैतन्य से ही है। अतः इस चित् प्रतिबिम्बित बुद्धिस्थ पदार्थ का ही ज्ञान पुरुष को प्राप्त होता है, चैतन्य होने के कारण। जैसे जड़ बुद्धि चेतनवत् प्रतीत होती है, वैसे ही निर्गुण असंकीर्ण, अकर्ता, केवल, निर्विकार पुरुष दृष्टकर्ता व भोक्ता सा प्रतीत होता है। इस प्रक्रिया का क्रम कुछ इस प्रकार है— प्रथमतः जड़ बुद्धि चेतनवत् होती है, बुद्धि से सूक्ष्मशरीर (पंच तन्मात्राएँ) और सूक्ष्म शरीर से स्थूल शरीर और स्थूल शरीर इस मिथ्याभिमान से ग्रस्त हो जाता है कि वही चित् है, जबकि वस्तुतः वह जड़ है। किन्तु, कैवल्य (मोक्ष) प्राप्ति की दशा में बुद्धि से सम्पर्क का हटना बुद्धि जन्य विवेकज्ञान को भी समाप्त कर देता है, जिसके फलस्वरूप जड़ अपने मूल रूप (अव्यक्त) में केवल (चित्स्वरूपात्मक पुरुष) रह जाता है। यही कैवल्य प्राप्ति दुःखत्रय विघात का सांख्योक्त उपाय है। प्रकृति—पुरुष के अतिरिक्त महतादि अन्य तत्त्व (23 तत्त्व) जिन्हें व्यक्त रूप में जाना जाता है, वे भी सांख्य के प्रमेय (विषय) हैं—

(2.4.3.3.) व्यक्त तत्त्व :- ये तेईस हैं, जो क्रमशः इस प्रकार हैं—

महत् : पुरुष के संसर्ग से क्षोभग्रस्त प्रकृति से उत्पन्न सर्वप्रथम व्यक्त पदार्थ अध्यवसाय इति लक्षणयुक्त, सत्वप्रधान, व्यष्टि रूप से बुद्धि नामोक्त इस महत् तत्त्व के दो रूप हैं—

सात्त्विक रूपः— धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य। और तामस रूपः— अधर्म, अज्ञान, राग, अनैश्वर्य।

बुद्धि के ये 8 धर्म भाव कहे गये हैं, जो लिंग शरीरस्थ हैं। तीनों अन्तःकरणों में सर्वप्रधान बुद्धि के प्रमुख 5 भेद प्रत्यय सर्ग या बौद्धिक सर्ग के रूप में जाने जाते हैं।

अहंकार : 'अभिमानोऽहंकारः' अर्थात् अभिमान का भाव अहंकार है, जो त्रिगुणात्मक होने के कारण तीन प्रकार का है (कारिका 25)—वैकृत, भूतादि तथा तैजस्। वैकृत अहंकार सत्वगुण प्रधान हैं, जिससे मन, 5 ज्ञानेन्द्रियाँ, 5 कर्मेन्द्रियाँ उत्पन्न होती है। भूतादि अहंकार तम गुण प्रधान है, जिससे पञ्च तन्मात्राएँ उत्पन्न होती है। तैजस् अहंकार सात्त्विक व तामस के उक्त कार्योत्पत्ति में सहयोग करने से रजोगुण प्रधान है।

इन्द्रियाँ :- अतिसूक्ष्म एकादश इन्द्रियों का विकास वैकृत अहंकार द्वारा होता है। एकादश इन्द्रियाँ अर्थात् पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ (श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा, घ्राण) पञ्च कर्मेन्द्रियाँ (वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ)। प्रमेय को प्रकाशित करने में ज्ञानेन्द्रियों तथा कार्य के ग्रहण में कर्मेन्द्रियों का महत्त्व है।

मन :- ग्यारहवीं इन्द्रिय मन उभयात्मक है। मन के द्वारा ही बुद्धि के समक्ष ज्ञान प्रत्यक्ष होता है। यह इन्द्रियों में सर्वश्रेष्ठ, अति सूक्ष्म व त्रैकालिक है। तीनों ही अन्तःकरणों (बुद्धि, अहंकार, मन) का व्यापार उनका अपना अपना लक्षण है।

तन्मात्राएँ :- भूतादि अहंकार से पांच प्रकार की तन्मात्राएँ उद्भूत होती हैं— शब्द तन्मात्र, स्पर्श तन्मात्र, रूप तन्मात्र, रस तन्मात्र, गन्ध तन्मात्र। तन्मात्राएँ विशेष हैं, क्योंकि सर्वसाधारण के अनुभव योग्य नहीं हैं। तन्मात्राओं की परस्पर संयुक्तता ही पंच महाभूतों के उद्भव का कारण है।

पंच महाभूत : आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी नामक पंच महाभूत स्थूल अर्थात् सर्वसाधारण द्वारा अनुभव योग्य होने से अविशेष है। ये भी त्रिगुणात्मक हैं। सूक्ष्म तन्मात्राओं में सुख—दुःखादि विशेषताएँ अस्पष्ट होती हैं, किन्तु महाभूतों में ये स्पष्ट तथा प्रत्येक महाभूत पंच तन्मात्राओं के गुणों से क्रमशः युक्त होते हैं। यथा—आकाश (महाभूत) का एक मात्र गुण शब्द (तन्मात्र) है और वायु का गुण शब्द तन्मात्र तथा स्पर्श तन्मात्र भी है। इसी क्रम से पृथ्वी (अन्तिम महाभूत) में पूर्ववर्ती चार (शब्द, स्पर्श, रूप, रस) तन्मात्रगुणों के साथ गन्ध (तन्मात्र) गुण भी विद्यमान है। भौतिक जगत के समस्त पदार्थ स्थूल भूत से उत्पन्न होते हैं। स्थूल शरीर भी पाञ्चभौतिक ही है। सूक्ष्मशरीर महत् अहंकार, मन सहित 5 ज्ञानेन्द्रियों, 5 कर्मेन्द्रियों और 5 तन्मात्राओं (18 तत्त्वों) से युक्त होता है। स्थूल शरीर के छूट जाने पर भी यह बना रहता है। संक्षेप में यही व्यक्त तत्त्व—परिचय है।

(2.4.4) सांख्योक्त ज्ञान—विवेचन अथवा ज्ञान—मीमांसा :- लक्ष्य है दुःखों की ऐकान्तिक व आत्यन्तिक निवृत्ति अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति। स्वरूपतः पुरुष दुःखरहित व निर्गुण है। किन्तु, प्रकृति से संस्पृष्ट होने के

कारण वह वास्तविक स्वरूप—ज्ञान से शून्य है। फलस्वरूप दुःख रहित नहीं है। प्रलयावस्था में जड़ प्रकृति से पृथक् होने पर चित् भी जड़ के समान ही सुषुप्त रहता है। फलतः सुखदुःखादि अनुभूति न होने से इस अनुभूति का ज्ञान भी नहीं रहता। पुनः जाग्रतावस्था अर्थात् (सृष्टि अवस्था) में वह सुख, दुःखादि से युक्त हो जाता है, जिससे उसके त्रिविध दुःखों की ऐकान्तिक व आत्यान्तिक निवृत्ति सम्भव नहीं हो पाती।

वस्तुतः अनादि काल से जड़ प्रकृति से संसृष्ट पुरुष जड़ महत् तत्त्व से स्वयं को पृथक् न मानता हुआ अहम् आदि भावों के बल पर स्वयं को ज्ञाता मान लेता है तथा बुद्धि के त्रिगुणात्मक होने से उसके सुख दुःखादि भावों से वह भी सुखी—दुःखी होता रहता है। यह क्रम यँ ही बना रहता है। कोई भी उपाय इस क्रम को भंगा नहीं कर पाता है। प्रत्यक्षगोचर उपायों से कभी दुःख दूर होते हैं, कभी दुःख उन उपायों (प्रत्यक्ष) से दूर नहीं भी होते हैं। अतः ऐकान्तिक रूप से दुःख निवृत्त नहीं होते। इन दुःखों का गमनागमन बना रहता है। इन प्रत्यक्षगोचर उपायों से आत्यान्तिक दुःख निवृत्ति भी नहीं। यज्ञादि वैदिक उपाय भी अविशुद्धि, क्षयकारी और न्यूनाधिक्यभाव युक्त होने से दुःखों का भोग कराने वाले ही हैं। अतः ऐकान्तिक व आत्यान्तिक निवृत्ति शून्य है। भौतिक सृष्टि त्रिगुणात्मक होने से सुख दुःखादि भावोत्पादक है तथा प्रकृति प्रधान तत्त्व बुद्धि के संसर्ग से अभेदानुभव की स्थिति न तो दुःख की निवृत्ति होने देती है, न ही इसके फल—मोक्ष की प्राप्ति ही। अतः सांख्य के अनुसार मुमुक्षु (मोक्ष प्राप्ति के इच्छुक) जन सात्त्विक आचरण तथा सात्त्विक आहारादि का निरन्तर सेवन करके बुद्धि में सात्त्विक ज्ञान की वृद्धि कर रज एवं तमोगुण के पराभव के साथ गुरु द्वारा व्यक्त (विकार) अव्यक्त (प्रकृति) तथा ज्ञ (पुरुष) के विवेकज्ञान से होने वाले सर्वश्रेष्ठ ज्ञान को प्राप्त कर इसके प्रति निरन्तर प्रयत्नशील रहता है।

“अहमादि” भावों के स्थल पर “नाहमादि” भावों का अनुभव करता हुआ प्रेक्षकवत् प्रकृति का दर्शन करता है। किन्तु, इस दशा में प्रकृति से संसर्गवान होता हुआ भी बन्धमुक्त रहता है। इस प्रकार सम्पूर्ण तत्त्वज्ञान की प्राप्ति होने से पूर्वसञ्चित कर्म नष्ट हो जाते हैं। मात्र प्रारब्ध कर्मों के संस्कारवश यही धृत शरीर जीवन्मुक्त है, जिसे देह—त्याग के साथ कैवल्य—पद प्राप्ति होती है।

(2.5) संदर्भित पुस्तकें :-

1. सांख्यकारिका — डॉ० रामकृष्ण आचार्य
2. सांख्यकारिका — डॉ० के० के० त्रिपाठी
3. सांख्यकारिका — डॉ० हरिदत्त शास्त्री
4. सांख्यकारिका — डॉ० ब्रजमोहन चतुर्वेदी
5. सांख्यकारिका — डॉ० रामशंकर भट्टाचार्य
6. सांख्यकारिका — डॉ० प्रेमा अवस्थी
7. सांख्यकारिका — डॉ० एच०एन० यादव

(2.6) बोध प्रश्न

(2.6.1) बोध-प्रश्न (दीर्घ उत्तरीय)

1. प्रश्न:— सांख्य-प्रतिपादित 'सत्कार्यवाद' को स्पष्ट कीजिए।

अथवा

सांख्य दर्शन के कार्य-कारणवाद की पूर्ण व्याख्या कीजिए।

उत्तर:— ईश्वरकृष्ण द्वारा बहत्तर कारिकाओं में प्रतिपादित कार्य-कारणवाद सांख्य जगत में 'सत्कार्यवाद' के रूप में जाना जाता है। सृष्टि का विकास सांख्य की दृष्टि में प्रकृति का परिणाम है। यँ तो सृष्टि-विषयक चिन्तन करने वाले सभी दर्शनों की अन्वेषणा कार्य-कारण सम्बन्धी विचारों पर ही आधारित हैं। जगत् के कारणभूत तत्त्वों की खोज करके सभी ने अपने-अपने मत प्रकट किये। न्यायदर्शन जहाँ सत् से असत्-उत्पत्ति (असत्कार्यवाद) की स्थापना करता है, वहीं बौद्ध दार्शनिक असत् (शून्य) से सत् की उत्पत्ति मानते हैं। वेदान्ती सम्पूर्ण जगत सत्पदार्थ (ब्रह्म) का विवर्त मानते हैं। सांख्य की दृष्टि में सत् से ही सत् कार्य की उत्पत्ति होती है। 'कार्य' अपनी उत्पत्ति के पूर्व 'कारण' में विद्यमान रहता है। कार्य की अभिव्यक्ति के पूर्व सत्ता का प्रतिपादन करने के कारण ही यह सिद्धान्त 'सत्कार्यवाद' कहलाता है, जिसको सिद्ध करने के लिए ईश्वरकृष्ण जी ने पाँच तर्क दिये हैं, जो इस प्रकार हैं—

असदकरणात् उपादानग्रहणात् सर्वसंभवाभावात् ।

शक्तस्यशक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम् ।।

1. **असदकरणात्** — यदि कारण व्यापार से पूर्व कार्य असत् हो तो उसकी किसी भी प्रकार सत्त्व (उत्पत्ति के पश्चात् कार्य सत्य रूप है) रूप में उपलब्धि नहीं हो सकती। जैसे सहस्त्रों कारीगर हरे को नीला नहीं बना सकते। चूँकि लोक में कार्य की सत्त्व रूप में उपलब्धि होती है, अतएवं उसको कारण-व्यापार से पूर्व 'कारण' के अन्तर्गत सत् मानना युक्ति संगत है। सांख्य दर्शन में 'उत्पत्ति' का अर्थ केवल अभिव्यक्ति माना गया है, जो कार्य की पूर्वसत्ता मानने पर भी सम्भव हो सकती है। निमित्त कारण का उपयोग केवल इतना ही है कि वह उपादान कारणगत अप्रत्यक्षरूप से वर्तमान कार्य को अभिव्यक्त कर दे। जिस प्रकार तिल को पेरने से तेल निकलता है तथा गाय को दुहने से दूध निकलता है। उसी प्रकार निमित्त कारण के व्यापार से 'कारण' से 'कार्य' की अभिव्यक्ति मानी गयी है। यदि तिल में तेल व गाय में दूध न हो तो किसी भी काल में, किसी भी चातुर्य से इनकी उत्पत्ति नहीं हो सकती।
2. **उपादानग्रहणात्:—** यदि 'कार्य' की कारण में सत्ता न हो तो फिर किसी इच्छित वस्तु की किसी भी पदार्थ से उत्पत्ति हो सकती है। दही की इच्छा रखने वाला व्यक्ति क्यों दूध ही से उसको जमाने का प्रयत्न करता है। अतः यह प्रमाणित होता है कि कार्य स्वोत्पत्ति से पूर्व अपने उपादान कारण में अव्यक्त अवस्था में निहित रहता है।

3. **सर्वसंभवाभावात्**— सत्कार्यवाद की प्रामाणिकता में तीसरा हेतु कार्य का उसके कारण में यदि पूर्व अभाव (असत्) माना जाये तो फिर किसी भी वस्तु की किसी अन्य वस्तु से उत्पत्ति हो सकती है। बालू से भी तेल निकल सकता है, जल से दही जम सकता है, किन्तु ऐसा नहीं होता है। तभी तो—

“असत्त्वे नास्ति सम्बन्धः कारणैः सत्त्वसंगिभिः
असम्बद्धस्य चोत्पत्तिमिच्छतो न व्यवस्थितिः।।”

(सांख्य तत्त्व—कौमुदी)

4. **शक्तस्य शक्यकरणात्**— मीमांसाशास्त्र में कारण में स्थिति शक्ति से कार्य की उत्पत्ति मानी गयी है। सांख्याचार्यों का कहना है कि यदि कारण की शक्ति से ही कार्य की उत्पत्ति होती है तो भी उस कारण से सदैव एक विशेष कार्य की उत्पत्ति होती है अन्य वस्तुओं की नहीं। यथा शक्त कुम्भकार द्वारा मिट्टी, दण्ड, चक्र, आदि उपकरणों से केवल घट की ही उत्पत्ति हो सकती है, कनक कुण्डल आदि की नहीं। अतः यह सिद्ध है कि कारण में कार्योत्पादक शक्ति की स्थिति केवल कार्य के द्वारा ही जानी जा सकती है। और वह कार्य कारण व्यापार से पूर्व 'कारण' में विद्यमान रहता है।
5. **कारण भावात्**—'सत्कार्यवाद' की सिद्धि का पाँचवा हेतु कार्य और 'कारण' का तादात्म्य अथवा कार्य का कारणभावत्व बतलाता है। जिससे सिद्ध है कि कारण का जो लक्षण है वहीं कार्य का भी (लक्षण) होना अनिवार्य है। यथा—जौ से जौ की तथा धान से धान की ही उत्पत्ति होती है। ऐसी स्थिति में यदि कारण 'सत्' है तो उसका कार्य भी कारण व्यापार के पूर्व सत् होना चाहिए।

सत्कार्यवाद के अनुसार उत्पत्ति एवं विनाश का अर्थ—सांख्यमत से कार्य कारण में अव्यक्त रूप से रहता है। अव्यक्त की अभिव्यक्ति ही कार्य की 'उत्पत्ति' है तथा व्यक्त का पुनः अव्यक्त होना ही 'नाश' है। सांख्य में न किसी की उत्पत्ति होती है और न किसी का नाश होता है। वस्तुतः उत्पत्ति और नाश एक धर्म को छोड़कर दूसरे धर्म को ग्रहण करना है।

परिणामवाद—कारण से कार्य का व्यक्त होकर दूसरा रूप अथवा धर्म ग्रहण करना ही परिणामवाद कहा जाता है। इसमें 'कार्य' अपने कारण के समान ही सत् होता है 'विवर्तवाद' के समान मिथ्या नहीं। यहीं सांख्य प्रतिपादित परिणामवाद सत्कार्यवाद का मूल है।

(2.6.2) बोध—प्रश्न (लघुउत्तरीय):—

1. **प्रश्न**— सांख्यकारिका के आधार पर पुरुष का अस्तित्व सिद्ध कीजिए।

अथवा

सांख्य दर्शन के अनुसार पुरुष की सत्ता सिद्ध कीजिए।

उत्तर:— सांख्य दर्शन में प्रकृति और पुरुष दो नित्य तत्त्व माने गये हैं। जिनमें से प्रकृति सम्पूर्ण जगत की कर्त्री है, और पुरुष कारण—कार्यभाव से परे असंग है। महदादि व्यक्त पदार्थों के उपादान कारण

होने के कारण प्रकृति की सिद्धि 'भेदानां परिणामात्' आदि हेतुओं से हो जाती है, किन्तु पुरुष की सिद्धि इन हेतुओं से सम्भव नहीं। किन्तु, पुरुष है और इसकी सिद्धि के लिये ईश्वरकृष्ण ने पाँच तर्क प्रस्तुत किये हैं—

'घातपरार्थत्वात् त्रिगुणादिविपर्ययादधिष्ठानात्।

पुरुषोऽस्ति भोक्तृभावात् कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्रवः॥'

1. **संघातपरार्थत्वात्**— महत्तत्त्व से लेकर पृथ्वीपर्यन्त समस्त व्यक्त कार्य सुख—दुःख मोहात्मक होने के कारण संघात रूप है। यह संघात शय्या, आसन आदि की भाँति दूसरे के लिये होता है, अपने लिये नहीं। अतः इनसे भिन्न पुरुष की सत्ता स्वतः सिद्ध है।
2. **त्रिगुणादिविपर्ययात्**—गुणत्रय, अविवेकित्व और विषयत्व आदि से विपरीत पुरुष की सत्ता सिद्ध है। कहने का तात्पर्य यह है कि त्रिगुणादि के व्यतिरेक द्वारा पुरुष की सत्ता सिद्ध होती है—यत्र न त्रिगुणादिमत्त्वं तत्र न प्रकृतित्वं, यथा पुरुषे।'
3. **अधिष्ठानात्**—सुख—दुःख मोहात्मक प्रकृति के गुणों की अनुभूति के लिये किसी अधिष्ठान का होना आवश्यक है और वह अधिष्ठान (अधिकरण) पुरुष है।
4. **भोक्तृभावात्**— महत्तत्त्व से लेकर पृथिवीपर्यन्त सम्पूर्ण पदार्थ भोग्य हैं। जिनका वे स्वयं उपभोग नहीं कर सकते। उनका उपभोग इनसे भिन्न कोई दूसरा भोक्ता ही कर सकता है। अतः भोक्ता चेतन पुरुष का अस्तित्व सिद्ध होता है।
5. **कैवल्यार्थं प्रवृत्ते** :— कैवल्य दुखों की आत्यन्तिक निवृत्ति है, जोकि बुद्धि आदि में नहीं। यह केवल ज्ञानवान् पुरुष में ही सम्भव है, अतः बुद्धि आदि जड़ तत्त्वों से व्यतिरिक्त चेतन आत्मा (पुरुष) का अस्तित्व सिद्ध है।

(2.7) स्वपरख प्रश्न/अभ्यास :-

1. सांख्य सम्मत प्रमाण विवेचन कीजिए।
2. सांख्य के अनुसार प्रकृति का स्वरूप स्पष्ट कीजिए।
3. सांख्य के अनुसार पुरुष का स्वरूप—निर्धारण कीजिए।
4. सांख्य सम्मत बन्ध, मोक्ष—अवस्था पर प्रकाश डालिए।
5. सांख्यसम्मत सम परिणाम तथा विषम परिणाम को स्पष्ट कीजिए।
6. सांख्य सम्मत गुण—धर्म का विवेचन कीजिए।
7. सांख्य के प्रमुख तत्त्वों की विवेचना कीजिए।
8. सृष्टि प्रकरण में चित् की प्रधानता सुनिश्चित करें।

अथवा

सृष्ट्योत्पत्ति में चित् तत्त्व का क्या महत्व है? अथवा सृष्टि प्रक्रिया पर संक्षिप्त टिप्पणी कीजिए।

9. सांख्य के अनुसार जीवन्मुक्ति की दशा क्या है?
10. सूक्ष्मशरीर पर संक्षिप्त टिप्पणी कीजिए।

अथवा

सांख्य के अनुसार सूक्ष्मशरीर की अवधारणा क्या है?

अथवा

लिंग शरीर का संक्षिप्त विवरण दीजिए।

11. पुरुष बहुत्ववाद का आधार क्या है?

उत्तर— सांख्य के अनुसार जन्मादिव्यवस्थातः पुरुष बहुत्वम् (सां०सू० 1/149) अर्थात् जन्मादिव्यवस्था से पुरुष का बहुत्ववाद सिद्ध होता है। क्योंकि—

जननमरणकरणानां प्रतिनियमाद्युगपत्प्रवृत्तेश्च।

पुरुष बहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव ॥ ४ ॥

जन्म, मरण तथा करणों (इन्द्रियों) की दशा भिन्न-भिन्न शरीरों में भिन्न-भिन्न होने से सभी शरीरों में एक पुरुष का नहीं, अपितु प्रत्येक शरीर में पृथक्-पृथक् का होना सिद्ध करता है। अपि च लोक में न तो सभी प्राणी एक साथ किसी कार्य में प्रवृत्त होते हैं, न निवृत्त। त्रिगुणों (सत्त्व-रजस-तमस) के न्यूनाधिक्य के कारण भी प्रत्येक शरीर का अधिष्ठाता भिन्न-भिन्न पुरुष है, न कि एक।

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. सांख्य के अनुसार प्रमाण कितने हैं?

अ) एक ब) दो स) तीन द) चार

उत्तर— स

2. सांख्य –स्वीकृत सिद्धान्त—

अ) सत्कार्यवाद ब) असत्कार्यवाद स) विवर्तवाद द) शून्यवाद

उत्तर— अ

3. सांख्य है—

अ) द्वैताद्वैतवादी ब) द्वैतवादी स) अद्वैतवादी द) शुद्धाद्वैतवादी

उत्तर —ब

4. प्रकृति पुरुष की कल्पना किसमें है?

अ) न्याय ब) वेदान्त स) मीमांसा द) सांख्य

उत्तर— द

5. सांख्यतत्त्व कौमुदी टीका है—

अ) सांख्यसूत्र ब) वेदान्तसार स) सांख्यकारिका द) तर्कभाषा

उत्तर—स

6. सांख्य के अनुसार महदादि तत्त्वों का कारण है—

अ) अहंकार ब) बुद्धि स) पुरुष द) प्रकृति

उत्तर —द

7. सांख्य के अनुसार जीवनमुक्त किसका फल भोगता है?

अ) क्रियमाण कर्म ब) संचितकर्म स) प्रारब्ध कर्म द) अज्ञान

उत्तर— स

8. प्रकृतिवाद की प्राप्ति किसमें है?

अ) योग ब) सांख्य स) वेदान्त द) तर्क

उत्तर—ब

9. सांख्य के अनुसार जीवन का परम लक्ष्य—

अ) निर्वाण ब) मोक्ष स) कैवल्य द) निःश्रेयस्

उत्तर—स

10. सांख्य में गुणत्रय के विक्षोभस्वरूप प्रकृति से कितने तत्त्वों का जन्म होता है—

अ) 18 ब) 25 स) 23 द) 2

उत्तर—स

स्वयं अध्ययन सामग्री

पाठ्यक्रम	—	एम0ए0
वर्ष	—	पूर्वाद्ध
विषय	—	संस्कृत
प्रश्न पत्र	—	चतुर्थ
शीर्षक	—	दर्शन
इकाई	—	(3) वेदान्तसार (सदानन्दकृत) (व्याख्या एवं प्रश्न)
लेखिका	—	डॉ0 सुधा गुप्ता
सम्पादक	—	प्रो0 अशोक कुमार कालिया

मध्यप्रदेश भोज (मुक्त) विश्वविद्यालय, भोपाल

एम0ए0 (पूर्वाद्ध) संस्कृत
चतुर्थ प्रश्नपत्र—दर्शन
इकाई (3) वेदान्तसार (सदानन्दकृत)
(व्याख्या एवं प्रश्न)

इकाई की रूपरेखा :-

- (3.0) उद्देश्य
- (3.1) प्रस्तावना
- (3.2) इकाई के शीर्षक का अर्थ
- (3.3) पाठ्यक्रम
- (3.4) सारांश
- (3.5) संदर्भित पुस्तकें
- (3.6) बोध प्रश्न
- (3.7) स्वपरख प्रश्न/अभ्यास

(3.0) उद्देश्य :-

परिव्राजकाचार्य सदानन्द विरचित 'वेदान्तसार' नामक इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् आप इस योग्य हो सकेंगे कि—

- धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष नामक पुरुषार्थ चतुष्टय के अन्तिम पुरुषार्थ अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति का ज्ञान प्राप्त कर सकें।
- भारतीय मनीषा के अनुपम भण्डार वैदिक सिद्धान्तों एवं रहस्यों को सरलतम रूप में जान सकें।
- आध्यात्मिक जगत् से जुड़े स्वाभाविक प्रश्न—जीव, ब्रह्म, अज्ञान (माया, अविद्या) आत्मा आदि का स्वरूप तथा सृष्टि प्रक्रिया इत्यादि को सहजता से जान सकें।
- नित्य (सत्) एवं अनित्य (असत्) वस्तु का ज्ञान प्राप्त कर सकें।
- युक्तिपूर्वक शंकाओं का समाधान कर सकें।

(3.1) प्रस्तावना :-

उपनिषदों की अध्यात्मविद्याविषयक विचारधारा के सुसंगठित रूप को वेदान्त दर्शन के रूप में जाना जाता है। महर्षि बादरायण व्यास ने उपनिषदों में यत्र—तत्र बिखरे हुए अध्यात्मविद्याविषयक विचारों को एकत्र कर 'ब्रह्मसूत्र' (वेदान्त सूत्र) के रूप में प्रस्तुत किया, जिसके समन्वयाध्याय, विरोधाध्याय, साधनाध्याय तथा फलाध्याय नामक चार अध्याय हैं। प्रत्येक अध्याय चार पादों में विभक्त है। इस प्रकार समग्र ब्रह्मसूत्र 4 अध्याय, 16 पाद, 191 अधिकरण तथा 555 सूत्रों में विभक्त है। इसी 'ब्रह्मसूत्र' पर अनेकानेक भाष्य एवं टीकाएँ लिखी गईं, जिनमें से शंकराचार्य विरचित 'शारीरक भाष्य' विद्वत्समुदाय में

विशेष महत्वपूर्ण एवं सर्वमान्य है। इसके अतिरिक्त रामानुज, मध्व, बल्लभ, निम्बार्क, भास्कर आदि आचार्यों ने अपने-अपने भाष्य ग्रन्थों के माध्यम से वेदान्तविषयक विभिन्न सम्प्रदायों की स्थापना की।

भारतीय दर्शन की आदर्शवादी विचारधारा के युगप्रवर्तक चिन्तक आचार्य शंकर प्रतिपादित अद्वैतवेदान्त आज वेदान्त का पर्याय बन चुका है। उनके द्वारा रचित ब्रह्मसूत्र का शारीरक-भाष्य, गीता-भाष्य तथा दशोपनिषद्-भाष्य संस्कृत वाङ्मय में 'प्रस्थानत्रयी' के नाम से जाना जाता है तथा उनके द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त को 'अद्वैतवाद' के नाम से जाना जाता है। शंकराचार्य प्रतिपादित इसी अद्वैतवेदान्त को उनके सुयोग्य शिष्य-प्रशिष्य और अधिक प्रगति की ओर ले गए। इसी परम्परा में सदानन्द योगीन्द्र (16वीं शताब्दी के वेदान्ताचार्य) की ख्यातिलब्धकृति 'वेदान्तसार' सम्पूर्ण वेदान्त सिद्धान्तों का प्रारम्भिक ज्ञान प्राप्त करने के लिए अत्यधिक उपयोगी परिचायक ग्रन्थ है।

(3.2) इकाई के शीर्षक- 'वेदान्तसार' का अर्थ-

वेदान्त को कुछ इस प्रकार जाना जा सकता है-

'वेदान्तो नामोपनिषत्प्रमाणं तदुपकारिणि शारीरकसूत्रादीनि च' के अनुसार उपनिषदों को प्रमाण मानकर चलने वाले शास्त्र वेदान्त हैं तथा उन्हीं उपनिषदों का अनुसरण करने वाले शारीरक (ब्रह्म) सूत्र आदि भी वेदान्त हैं। 'वेदानाम् अन्तः इति वेदान्तः' इस वृत्ति के अनुसार वेदों के अन्तिम भाग (उपनिषद्) को वेदान्त कहते हैं। संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक एवम् उपनिषद् - इन चतुर्विध वेद-विभागों में उपनिषद् अन्तिम वेद-विभाग हैं, अतः उपनिषदें ही वेदान्त हैं।

वेदान्तसार इन्हीं (उपनिषदों) का सार (रहस्य) है। अन्तिम भाग उपनिषदों में ही वेद (ज्ञान) विषयक विवेचन परिपक्वावस्था में दृष्टिगोचर होने से यही वेदों का सार (वेदान्त) है। वेदों को तिल व वेदान्त को तैल माना गया है। जिस प्रकार तिलों को कोल्हू में पेरने से सारतत्त्व तेल निकलता है, उसी प्रकार वेदों का मन्थन होकर वेदान्त की रचना हुई। वेदान्तसार इन्हीं वेदान्तिक सिद्धान्तों को सरलतम रूप में प्रस्तुत करने वाला वेदान्त का प्रकरण ग्रन्थ है।

(3.3) पाठ्यक्रम (व्याख्या)

(1) पुरोवाक्-वेदान्त में साधन चतुष्टय (नित्य-अनित्य वस्तु विवेक, इहलोक-पारलौकिक फल-भोग विरक्ति, शमादि छः सम्पत्तियाँ, मुमुक्षुत्व) युक्त प्रमाता को वेदान्त का अधिकारी कहा गया है। इस प्रकार प्रमाता ही अधिकारी है। ऐसा प्रमाता शम से युक्त, दम से युक्त इस श्रुतिवाक्य से अधिकारी होता है, जैसा कि कहा गया है-

'प्रशान्तचिन्ताय जितेन्द्रियाय, प्रहीणदोषाय यथोक्तकारिणं।

गुणान्वितायानुगताय सर्वदा, प्रदेयमेतत्सततं मुमुक्षवे।।' इति।।

अर्थ-प्रशान्त चित्त वाले, वशी, निर्दोष, शास्त्रविहित विधि से कर्मानुष्ठान करने वाले, विवेकादिगुण सम्पन्न, आचार्यानुगामी अथवा श्रद्धावान् मोक्ष की 'कामना वाले पुरुष (जिज्ञासु)' को यह समस्त आत्मज्ञान सदा (निस्संकोच) देना चाहिए।

व्याख्या— वेदान्तसार के अनुसार जिसका मन पूर्णतः शान्त है, वश में है, वही वेदान्त का सच्चा अधिकारी माना गया है—

प्रशान्तचित्ताय— प्रत्येक प्रकार से भ्रमहीन, परनिन्दा रहित, सांसारिक व पारलौकिक व्यवहारों से हटकर जिसका चित्त शान्त हो चुका हो, वह प्रशान्तचित्त है।

प्रहीणदोषाय :— जो सभी प्रकार के अपने दोषों को सदैव के लिए त्यागकर नितान्त निर्मल स्वभाव प्राप्त कर चुका है।

यथोक्तकारिणे :— काम्य व निषिद्ध कर्मों का परित्याग कर शास्त्रविहित आचरण करने वाला। काम्यकर्म अर्थात् किसी फल की अभिलाषा से किया गया कर्म। यथा—‘**ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत्**’, वेदों में निषेधसूचक ‘नञ्’ से ‘**ब्राह्मणो न हन्तव्यः**’ का बोध होता है, उन कर्मों को निषिद्ध कर्म कहा जाता है।

गुणान्विताय—सदसद्विवेक, त्याग और क्षमा आदि गुण से युक्त हो।

अनुगताय— गुरु के अनुकूल आचरण करने वाला अथवा गुरु के कथनों का श्रद्धापूर्वक अनुसरण करने वाला ही वेदान्त का सच्चा अधिकारी है।

वस्तुतः साधन चतुष्टय (नित्यानित्यवस्तुविवेक, इहामुत्रार्थफलभोगविराग, शमादि षट् सम्पत्ति तथा मुमुक्षा) सम्पन्न प्रमाता (साधक) ही वेदान्तसार पढ़ने का अधिकारी है और उसे वेदान्तदर्शन का ज्ञान देना सर्वथा उचित है।

विशेष—1. शुक्ल यजुर्वेद की काण्व शाखा की संहिता के उपनिषद् बृहदारण्यक में उल्लेख मिलता है कि—‘**शान्तोदान्तः उपरतस्तिक्षुः समाहितो भूत्वात्मन्येवात्मानं पश्यति**’ —अर्थात् शान्त (मन से शान्त), दान्त (इन्द्रियों का दमन करने वाला) उपरत (ब्रह्मातिरिक्त विषयों से निरोध) सहनशील सावधान होकर आत्मा को आत्मा में देखता है।

(2) पुरोवाक् — अज्ञानोपाधियुक्त (अज्ञान की उपाधि से उपहित) ब्रह्म सगुण साकार रूप धारण करने पर ईश्वर कहा जाता है तथा यह ईश्वर रूप ब्रह्म ही अज्ञान के विशुद्ध सत्त्व से युक्त होकर विश्व सर्जना करता है। इस प्रपंचात्मक जगत् के निर्माण में अज्ञान की जिन दो शक्तियों का उपयोग ईश्वर करते हैं, उन्हीं का निरूपण प्रस्तुत प्रकरण में किया जा रहा है—

अस्याज्ञानस्यावरण विक्षेपनामकमस्ति शक्तिद्वयम् ।।

अर्थ— इस अज्ञान की आवरण एवं विक्षेप नाम वाली दो शक्तियाँ हैं।

व्याख्या :— ये शक्तियाँ हैं—आवरण एवं विक्षेप।

आवरण शक्ति— आत्मा के सत् चित, आनन्द स्वरूप को ढक लेने वाली अज्ञान की शक्ति को आवरण शक्ति कहते हैं। सुबोधिनी टीका के अनुसार भी—

‘सच्चिदानन्दस्वरूपमावृणोतीत्यावरणशक्तिः ।’

विक्षेप शक्ति— ब्रह्म से लेकर स्थावरपर्यन्त सम्पूर्ण जगत् की रचना के कारण अज्ञान की इस शक्ति को विक्षेप शक्ति कहते हैं। सुबोधिनी टीका के अनुसार—

‘ब्रह्मादिस्थावरान्तं जगत् जलबुद्बुदवत् नामरूपात्मकं विक्षिपति सृजतीति विक्षेपशक्तिः ।’

अज्ञान :- अज्ञान सत् तथा असत् रूप अनिर्वचनीय है, जो अपनी आवरण शक्ति द्वारा ब्रह्म के 'सत्' रूप को आच्छादित कर विक्षेप शक्ति द्वारा प्रमाता को असत् रूप जगत् का आभास कराता है। वस्तुतः पारमार्थिक रूप से जगत् मिथ्या है, असत्य है। अतः प्रमाता की बुद्धि का यह अज्ञानजन्य मिथ्याभास आत्मज्ञान होते ही विनष्ट हो जाता है। निर्गुण निराकार ब्रह्म इसी अज्ञान (गुणत्रयी माया) से संयुक्त होने पर सगुण साकार ईश्वर कहा जाता है, जो कि सम्पूर्ण सृष्टि का नियामक और कर्ता भी है।

(3) पुरोवाकः- 'तत्त्वमसि' महावाक्य में अखण्डार्थ बोध के लिए लक्षणावृत्ति का आश्रय लिया जाता है, क्योंकि 'तत्त्वमसि' का अर्थ बोध लक्षणा (जहदजहल्लक्षणा या भागलक्षणा) से ही अभीष्ट है, किन्तु शंका की जाती है कि जिस प्रकार 'नीलमुत्पलम्' वाक्य में समानाधिकरण व विशेषण-विशेष्य भाव सम्बन्ध होने पर लक्षणा की सहायता के बिना ही अभिधा मात्र से अर्थ बोध हो जाता है, उसी प्रकार 'तत्त्वमसि' 'महावाक्य' में भी समानाधिकरण और विशेषण-विशेष्य भाव सम्बन्ध होने पर अभिधा मात्र से ही वाक्यार्थ-बोध क्यों नहीं होता है? निम्नलिखित कारिका में इसी शंका को स्पष्ट किया जा रहा है -

'संसर्गो वा विशिष्टो वा वाक्यार्थो नात्र सम्मतः।

अखण्डैकरसत्त्वेन वाक्यार्थो विदुषां मतः॥' इति ॥

अर्थ- इस (तत्त्वमसि) वाक्य में भेद संसर्ग रूप अथवा अभेद संसर्ग रूप वाक्यार्थ अभीष्ट नहीं है। विद्वानों को अखण्ड एकरस रूप में वाक्यार्थ अभीष्ट है।

व्याख्या- 'नीलमुत्पलमिति.....न संगच्छते।' 'तत्त्वमसि' इस वाक्य में 'तत्' और 'त्वम्' इन दोनों पदों से एक अखण्डार्थ की प्रतीति होती है, जो अभिधावृत्ति से सम्भव नहीं हैं, क्योंकि अभिधावृत्ति से इनमें (तत् एवं त्वम् पद में) परस्पर विरोध उत्पन्न होगा। कारण, एक अल्पज्ञ (जीव) है, दूसरा सर्वज्ञ (ईश्वर) है, जो क्रमशः प्रत्यक्ष व परोक्ष है। अखण्डार्थ में द्वैत सम्भव ही नहीं हैं। अतः इसके अभीष्ट अर्थ (अखण्डार्थ-प्रतीति) हेतु लक्षणा ही संगत है, जबकि 'नीलमुत्पलम्' में अखण्डार्थ-प्रतीति अभीष्ट नहीं हैं, क्योंकि 'नीलमुत्पलम्' में नील पद नीलगुण अपने से भिन्न रक्त, पीत आदि का व्यावर्तक तथा उत्पल पद स्व-भिन्न घट पटादि का व्यावर्तन करता है। अतः दोनों पदों में विशेषण-विशेष्य भाव सम्बन्ध है। इन पदों की एकता को वाक्यार्थ के रूप में स्वीकार करने में कैसा भी विरोध नहीं है, किन्तु परस्पर विशेषण-विशेष्य भाव सम्बन्ध होने पर भी वाक्यार्थ बाधित होने पर तत्त्वमसि महावाक्य के वाक्यार्थ बोध हेतु लक्षणा वृत्ति उपयुक्त है।

संसर्ग- एक वाक्य में आये पदों को परस्पर सम्बन्धित करने वाले कारक अथवा विभक्तियाँ जो सम्बन्ध बताती हैं, उसको 'संसर्ग' कहते हैं। यह दो प्रकार का है- (1) भेद रूप (2)अभेद रूप ।

भेद रूप संसर्ग - जहाँ पर एक वाक्य में आये पदों में पृथक्-पृथक् विभक्तियाँ हो तथा सामानाधिकरण्य का अभाव हो, वहाँ पर भेद रूप संसर्ग है, यथा-**'दण्डेन अश्वं नय'** ।

अभेदरूप संसर्ग-जहाँ वाक्य में आये पदों में एक समान विभक्तियों का प्रयोग होने से सामानाधिकरण्य होता है, वहाँ अभेदरूप संसर्ग होता है। 'तत्त्वमसि' महावाक्य में समान विभक्ति होने से सामानाधिकरण्य है, अतः अभेद संसर्ग है। 'नीलमुत्पलम्' में गुणगुणिभाव है, क्योंकि नील पद नील गुण तथा उत्पल

द्रव्यवाचक है। 'तत्त्वमसि' में दोनों पदार्थों में द्रव्यरूप होने से और आपस में विरुद्ध (एक परोक्ष तथा दूसरा प्रत्यक्ष होने से) होने के कारण अभेदरूप संसर्ग का वाच्यार्थ बाधित होता है। अतः अखण्ड चैतन्य ज्ञान के लिए लक्षणा का आश्रय लेना पड़ता है।

(4) पुरोवाक्— आत्मसाक्षात्कार विषयक परस्पर विरोधी दिखने वाली श्रुतियों में भी कोई विरोध नहीं होता। 'मन के द्वारा ही उसका दर्शन करना चाहिए तथा जो मन के द्वारा नहीं जाना जाता' — इन दोनों श्रुति-प्रमाणों में किसी प्रकार का विरोध नहीं होता, क्योंकि शास्त्रों में ब्रह्म का चित्तवृत्ति से व्याप्त होना तो माना गया है, किन्तु फल (चिदाभास) के द्वारा उसके व्याप्त होने का निषेध है। इसे ही प्रस्तुत प्रकरण में सोदाहरण बताया जा रहा है—

'बुद्धितत्स्थचिदाभासौ द्वावेतौ व्याप्नुतो घटम्।

तत्राज्ञानं धिया नश्येदाभासेन घटः स्फुरेत्।।' इति।।

यथा दीप प्रभामण्डलमन्धकारगतं घटपटादिक विषयीकृत्य तद्गतान्धकारनिरसनपुरस्सरं स्वप्रभया तदपि भासयतीति।।

अर्थ— बुद्धि तथा बुद्धि में रहने वाला चिदाभास दोनों ही घट को अपना विषय बनाते हैं, (व्याप्त करते हैं)। उसमें बुद्धि के द्वारा घट विषयक अज्ञान का विनाश होता है तथा चिदाभास से घट प्रकाशित होता है। जैसे दीपक की किरणें (प्रकाश) अँधेरे में रखे घटपटादि को विषय बनाकर उनको घेरने वाले अन्धकार को दूर करके अपने प्रकाश से उन घटपटादि को आलोकित कर देती है।

व्याख्या— किसी भी विषय का ज्ञान होने में वृत्तिव्याप्ति व फलव्याप्ति नामक दो अवस्थाएँ होती हैं—

वृत्तिव्याप्ति— जैसे सरोवर का जल छिद्र से बहकर नाली के द्वारा क्यारियों में पहुँच जाता है तथा जैसी क्यारी होती है, वैसा ही आकार ग्रहण कर लेता है, वैसा ही तैजस् अन्तःकरण भी नेत्रादि इन्द्रियों के द्वार से घटपटादि विषयों के स्थान तक पहुँचकर उन्हीं के आकार में बदल जाता है। इसी परिणाम को वृत्ति कहते हैं। इससे घटविषयक अज्ञान नष्ट हो जाता है।

फलव्याप्ति— चित्तवृत्ति के विषयाकार परिणत हो जाने पर उसमें प्रतिबिम्बित चिदाभास (चैतन्य) के द्वारा घटपटादि विषय का प्रकाशन फल व्याप्ति है।

ब्रह्मज्ञान के लिए वृत्ति व्याप्ति तो आवश्यक है, क्योंकि उसके बिना ब्रह्म विषयक अज्ञान नष्ट नहीं होता, किन्तु स्वयं (ब्रह्म के) देदीप्यमान (प्रकाशमान) होने से (उसको प्रकाशित करने के लिए) उसका चिदाभास से प्रकाशित होना असम्भव है। अतः श्रुतियों (**मनसैवेदमाप्तव्यम्, यन्मनसा न मनुते**) में जो आत्मा को मनोगम्य व बुद्धिगम्य निरूपित किया गया है, इसमें किसी भी प्रकार का विरोध नहीं है। कारण, '**मनसैवेदमाप्तव्यम्**' में मन से वृत्ति अर्थ तथा '**यन्मनसा न मनुते**' से 'फल' अर्थ लेने से इनमें प्रतीत होने वाला विरोध स्वतः नष्ट हो जाता है।

(3.4) सारांश :-

वेदान्त का प्रतिपाद्य विषय :- वेदान्त का मूल प्रतिपाद्य विषय ब्रह्म—जीव ऐक्य है। ब्रह्म—जीव के इस अभेद निरूपण—अन्तराल में अनुबन्ध चतुष्टय, साधन चतुष्टय, अध्यारोप, अपवाद तथा अज्ञानादि विषयों

का प्रतिपादन किया गया है। सृष्टि प्रक्रिया, अनात्मवाद का खण्डन तथा अन्त में जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति आदि का वर्णन वेदान्तसार के प्रमुख प्रतिपाद्य विषय हैं। इनकी प्रामाणिकता की सिद्धि तथा तत्त्वज्ञानार्थ वेदान्त की मीमांसा दो भागों में बाँटकर की जा सकती है— क) प्रमाणमीमांसा ख) तत्त्वमीमांसा।

क) प्रमाणमीमांसा :- भारतीय दर्शन में ज्ञान की दो विधियाँ स्वीकार की गई हैं— (1) यथार्थ ज्ञान तथा (2) अयथार्थ ज्ञान। इनमें यथार्थ ज्ञान को प्रमा तथा अयथार्थ ज्ञान को अप्रमा कहते हैं। वेदान्तानुसार अबाधित विषय के ज्ञान को प्रमा तथा जिस ज्ञान से विषय बाधित हो, उसे 'अप्रमा' कहते हैं। प्रमा का कारण प्रमाण है। वेदान्तानुसार ये प्रमाण छः हैं— प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति तथा अनुपलब्धि।

1. **प्रत्यक्ष :-** वेदान्तमतानुसार प्रत्यक्ष ज्ञान के कारण को 'प्रत्यक्ष' प्रमाण कहते हैं, जैसे—घट या पट का चक्षुरिन्द्रिय के साथ सन्निकर्ष होने पर 'अयं घटः, अयं पटः' इस प्रकार जो यथार्थ ज्ञान होता है, उसे प्रत्यक्ष कहते हैं। प्रत्यक्षज्ञान भी दो प्रकार का होता है— (1) निर्विकल्पक ज्ञान (2) सविकल्पक ज्ञान।
2. **अनुमान :-** व्याप्ति द्वारा उत्पन्न होने वाला ज्ञान अनुमान प्रमाण कहा जाता है। यथा— 'यत्र—यत्र धूमस्तत्र तत्राग्निः।' प्रमाता पहले रसोईघर में धूम और अग्नि के साहचर्य का अवलोकन कर जहाँ धुआँ रहता है, वहाँ अग्नि रहती है, इस भाँति व्याप्ति का निश्चय करता है। तदनन्तर पर्वत पर अविच्छिन्न धूम रेखा देखकर व्याप्ति (यत्र—यत्र धूमस्तत्र—तत्राग्निः) का स्मरण कर इस पर्वत पर धूम है, अतः यहाँ अग्नि अवश्य है, यह अनुमान होता है।
3. **उपमान—** सादृश्य ज्ञान से उत्पन्न होने वाला ज्ञान 'उपमान' कहा जाता है। यथा—कोई पुरुष जंगल में नीलगाय को देखकर—'गो सदृशः गवयः'— यह पशु गाय सदृश है। अतः यह नीलगाय है। इस प्रकार से होने वाले ज्ञान को उपमान प्रमाण कहते हैं।
4. **शब्द :-** आप्त वाक्य (वचन) को शब्द प्रमाण कहते हैं। वाक्य वैदिक व लौकिक दो प्रकार के होते हैं। वैदिक वाक्य सभी प्रामाणिक होते हैं, जबकि कुछ ही लौकिक वाक्य प्रामाणिक होते हैं। यथा—स्वर्गकामो यजेत्—यह वैदिक वाक्य होने से प्रामाणिक है। आप्त पुरुष द्वारा कथित 'आप्त वचन' भी प्रामाणिक होता है।
5. **अर्थापत्ति :-** अनुपपद्यमान अर्थ को देखकर उसके उपपादक अर्थ की कल्पना 'अर्थापत्ति' है। यथा—देवदत्त दिन के समय भोजन नहीं करता, किन्तु मोटा (स्थूल) है। बिना भोजन किये स्थूल रहना असम्भव है, तब निश्चय ही वह रात्रि में भोजन करता है, इस प्रकार का जो आक्षेप है, वह अर्थापत्ति है, जो दो प्रकार की होती है— (1) इष्टार्थापत्ति (2) श्रुतार्थापत्ति।
6. **अनुपलब्धि—** वेदान्तानुसार घट शून्य पृथ्वी पर घटाभाव रूप जो विशिष्ट ज्ञान उत्पन्न होता है, उसे अनुपलब्धि या अभाव प्रमाण कहते हैं। यह चार प्रकार का होता है— (1) प्रागभाव (2) प्रध्वंसाभाव (3) अन्योन्याभाव तथा (4) अत्यन्ताभाव।

(ख) तत्त्वमीमांसा :-

आत्मा—अद्वैत वेदान्तानुसार आत्मा परमतत्त्व एवं देश कालादि से परे है, वह सदा एक रस और स्वयंसिद्ध है। उसको प्रमाणों से सिद्ध (प्रमाणित) नहीं किया जा सकता है। आत्मा पारमार्थिक सत्ता है। उसकी सत्ता का निषेध भी नहीं हो सकता। आत्मा, नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, अजन्मा, अद्वैत, निराकार, निरवयव, निष्क्रिय अपरिणामी तथा शुद्ध चैतन्य रूप है। आत्मा में कर्तृत्व तथा भोक्तृत्व भी नहीं; किन्तु उपाधि विशिष्ट होने के कारण कर्ता व भोक्ता रूप में अनुभव होता है। वह दुःख—सुख, पाप—पुण्य रहित, ज्ञात तथा ज्ञानाभाव से शून्य, स्वयं प्रकाश तथा चैतन्य है। जाग्रतावस्था में वह शरीरेन्द्रियों को अपना ही स्वरूप समझ लेता है, स्वप्नावस्था में भी उसको विषयज्ञान रहता है, परन्तु सुषुप्तावस्था में वह विषय ज्ञान रहित (मुक्त) होकर आनन्दमात्र का अनुभव करता है। यथार्थतः एक होने पर भी यह आत्मा अविद्या (अज्ञान) के कारण अनेक प्रतीत होती है। यही आत्मा 'ब्रह्म' है।

ब्रह्म—अद्वैत वेदान्तानुसार परमतत्त्व 'ब्रह्म' परमार्थ सत् है। उससे परे जगत् में कोई भी वस्तु 'सत्' नहीं है। ब्रह्म स्वप्रकाश, नित्य, कूटस्थ, नित्यतृप्त, निरवयव, चैतन्य, निष्क्रिय तथा आनन्दरूप है। ब्रह्म का तीनों कालों में कभी बाध नहीं देखा जाता है, इसलिए वही एकमात्र सत्य है। शेष समस्त सृष्टि जो दिखाई देती है, स्थूल है, मिथ्या है। '**ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या**' के अनुसार जगत् सच्चिदानन्द ब्रह्म का विवर्त रूप है। वह सजातीय एवं विजातीय भेद से शून्य है। वह अजाति, निर्गुण, निष्कर्म और असम्बद्ध है। अतः आत्मा ही ब्रह्म है, क्योंकि दोनों ही चैतन्य है। वह असीमित और अनन्त है। वह सामान्य और विशेष भेद से रहित, निरपेक्ष, स्वतन्त्र तथा निरुपाधि है। वह एक अद्वितीय तथा कूटस्थ है—'**एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म**'। ब्रह्म निर्गुण और सगुण दो रूप में है। व्यावहारिक दृष्टि से ब्रह्म सगुण है। सगुण ब्रह्म ही उपाधि युक्त होने से सोपाधि तथा सविशेष कहलाता है। उपनिषदों में इसको अपरब्रह्म कहा गया है। ब्रह्म का यह रूप तटस्थ लक्षण है। व्यावहारिक दृष्टि से यह जगत् सत्य माना जाता है तथा मायोपाधि विशिष्ट सगुण ब्रह्म उसका कर्ता, पालक, तथा संहर्ता है। ईश्वर ही सविशेष ब्रह्म है। सगुण ब्रह्म ही जगत् का उपादान एवं निमित्त कारण है। पारमार्थिक दृष्टि से ब्रह्म निर्गुण है। निर्गुण ब्रह्म ही माया की उपाधियों से रहित होने के कारण निरुपाधि एवं निर्विशेष कहा जाता है। उपनिषदों में उसे परब्रह्म कहा गया है। ब्रह्म का यह रूप उसका स्वरूप लक्षण है। यह ब्रह्म सत्, चित् एवं आनन्दरूप है तथा सजातीय, विजातीय और स्वगत भेद से रहित है। यह उपास्य और उपासक भेद से परे है। उपनिषदों में उसे नेति—नेति कहा गया है।

ईश्वर — ब्रह्म जब माया से आवृत्त (आच्छादित) होकर सगुण रूप को धारण करता है, तब वह ईश्वर कहा जाता है। ईश्वर जगत् का सर्जक, रक्षक तथा संहारक है। वह सर्वज्ञ, सर्वव्यापक और सर्वविध ऐश्वर्यसम्पन्न एवं सबका अन्तर्यामी है। ईश्वर माया के विशुद्ध सत्त्व से युक्त होकर विश्व सर्जना करता है। वह जगत् रचना (उत्पत्ति) का उपादान कारण भी है तथा निमित्त कारण भी है। जिस तरह मृत्पिण्ड (मिट्टी) का ज्ञान हो जाने पर मृत्तिकानिर्मित (मिट्टी के बने पात्रादि) सभी वस्तुओं का ज्ञान हो जाता है। यहाँ मृत्तिका सत्य है और मृत्तिका निर्मित सभी वस्तुएँ नामरूपात्मक हैं, उसी भाँति ब्रह्म का

ज्ञान हो जाने पर जगत् का ज्ञान स्वतः हो जाता है। इस प्रकार चैतन्यांश की प्रधानता से ईश्वर विश्व का निमित्त कारण है तथा स्वोपाधिभूता माया (अज्ञान) की प्रधानता से उपादान कारण भी बनता है। जिस तरह मकड़ी बिना किसी साधन के अकेली ही जाल की रचना करती है, उसी तरह ईश्वर भी बिना किसी की सहायता के अकेले ही अपनी शक्ति द्वारा नानाविध नामरूपात्मक विश्व की रचना करता है।

ईश्वर जगत् का सर्जक तत्त्व है, यह समस्त सृष्टि उसकी अभिव्यक्ति है। वह सत्त्व, रजस् तथा तमस् त्रय गुण युक्त है। यद्यपि वह एक है, किन्तु सृष्टिकर्ता, रक्षक एवं संहार की क्षमता से युक्त होने के कारण ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश तीन नामों से भूषित होता है। सत्त्व गुण प्रधान होने से सर्जनहार, रजोगुण प्रधान होने से पालक तथा तमोगुण प्रधान होने से संहारक है। इस तरह सत्त्वगुण प्रधान समष्टि रूप अज्ञान से उपहित चैतन्य सर्वज्ञ तथा जड़ जंगम समस्त जगत् का साक्षी है। वही जीवों के अन्तःकरण में स्थित होकर नियामक होने से सर्वनियन्ता है।

जीव—बुद्धि, अहंकार, मन, इन्द्रिय तथा शरीर की उपाधियों से परिच्छिन्न आत्मा ही जीव है। शंकराचार्य के मतानुसार शरीर और इन्द्रियों का स्वामी कर्मफलों का उपभोक्ता आत्मा जीव है। अविद्या में रहने वाले सत्त्वादि गुणों के वैचित्र्य से यह जीव भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है। अविद्या का वशवर्ती होने के कारण इसको 'अल्पज्ञ' भी कहते हैं। यह मलिन सत्त्वप्रधान, अहंकारादि का कारण है। अविद्या की उपाधि से युक्त जीव साक्षी रूप आत्मा है तथा अन्तःकरण के साथ तादात्म्य होने से वह कर्ता तथा भोक्ता है। जीव एक नहीं अनेक हैं। यदि समस्त शरीरों में एक ही जीव होता तब एक को सुख दुःखादि की अनुभूति होने पर अथवा एक जीव के मुक्त होने पर सभी में समान अनुभूति, अवस्था होती, किन्तु ऐसा देखा नहीं जाता है।

जीव की तीन अवस्थाएँ हैं— जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति। अन्नमय कोश रूप स्थूल शरीर का अभिमानी जीवन जाग्रतावस्था में 'विश्व' कहलाता है। मनोमय, प्राणमय तथा विज्ञानमय—कोशत्रय रूप सूक्ष्म शरीर का अभिमानी जीव की स्वप्नावस्था है। स्वप्नावस्था में जीव 'तैजस्' कहलाता है। सुषुप्ति अवस्था में जीव कारण शरीर की उपाधि बनता है, जिसको आनन्दमय कोश कहते हैं। इस अवस्था में जीव 'प्राज्ञ' कह जाता है।

अज्ञान—वेदान्त में अज्ञान को ब्रह्म की शक्ति, माया, अविद्या, अव्यक्त तथा मिथ्यादि अनेक अर्थों में प्रयुक्त किया गया है। आचार्य शंकर ने इसी को अध्यास कहा है। यह न तो ब्रह्म के समान सत् (यथार्थ), न आकाश कुसुम के समान असत् (अयथार्थ) है। यह परब्रह्म की बीजशक्ति है। इस अनिर्वचनीय माया रूप अज्ञान की दो शक्तियाँ हैं— (1) आवरण शक्ति (2) विक्षेप शक्ति। आवरण से तात्पर्य आच्छादन से है, जो प्रमाता की दृष्टि को आच्छादित कर आत्मा के शुद्ध स्वरूप को ढक लेती है, विक्षेप से तात्पर्य वस्तु के मूलस्वरूप पर किसी दूसरी वस्तु का आरोप करना।

अद्वैत वेदान्तानुसार अविद्या का ही अपर नाम 'अध्यास' है। वस्तु में अवस्तु का आरोप 'अध्यारोप' है और यही 'अध्यास' है, अर्थात् यथार्थ ब्रह्म (वस्तु) में अयथार्थ (अज्ञानादि जड़ समूहों) का आरोप अध्यास अध्यारोप है— 'वस्तु सच्चिदानन्दानन्ताद्वयं ब्रह्म। अज्ञानादि सकलजड़समूहोऽवस्तु।' वेदान्त में

अध्यास दो प्रकार का बताया गया है— (1) अर्थाध्यास (2) ज्ञानाध्यास। सीपी (शुक्ति) में मिथ्या रूप रजत की प्रतीति 'अर्थाध्यास' व आत्मा में मिथ्या रूप ज्ञान का आभास 'ज्ञानाध्यास' है। उपाधि भेद से अध्यास के दो प्रकार हैं — 1. निरुपाधिक 2. सोपाधिक। अखण्ड ब्रह्म में अहंकार का अवभास निरुपाधिक 'अध्यास' तथा उसी ब्रह्म में ईश्वर—जीवादि उपाधि भेद से जो अवभास है, वह सोपाधिक अध्यास है।

अध्यारोपापवाद — दृष्ट वस्तु में अदृष्ट वस्तु का आरोप अध्यारोप (अध्यास) कहा जाता है। जिस प्रकार सीपी में भ्रम के कारण रजत (चाँदी) का आभास सा लगता है। यहाँ धवलता भ्रम का कारण है। उसी प्रकार अद्वैत आत्मतत्त्व पर अज्ञान वश जगत् की भ्रमात्मक प्रतीति होती है, उसे अध्यारोप या अध्यास कहते हैं।

जो रस्सी अँधेरे में सर्प प्रतीति होती है, वही दीपक के प्रकाश होने पर सर्प के मिथ्याभासत्व का बोध करा देती है। केवल वहाँ अब रस्सी ही शेष रह जाती है। वैसे ही श्रवणमननादि के सतत् अभ्यास के द्वारा ज्ञानोदय होने पर जगत् सृष्टि के मिथ्या होने का बोध हो जाता है, तब अद्वैत सच्चिदानन्द ब्रह्म ही शेष रह जाता है। यही अपवाद है।

कार्य कारण सिद्धान्त — कार्य कारण सिद्धान्त के सम्बन्ध में प्रत्येक दर्शन में विचार विद्यमान है, किन्तु उनमें थोड़ा-थोड़ा अन्तर है। सांख्य सत्कार्यवाद मानता है, तो न्याय वैशेषिक असत्कार्यवाद मानता है। वेदान्त भी कार्य-कारण से पृथक् नहीं है, बल्कि कार्य कारण का ही भ्रान्त 'अध्यास' रूप है। वेदान्ती जगत् को ब्रह्म का विवर्त स्वीकार करते हैं। कारण दो तरह के होते हैं— (1) निमित्त कारण (2) उपादान कारण। जैसे—मकड़ी जाला निर्माण हेतु अपने चैतन्यांश की प्रधानता से निमित्त कारण है तथा स्व-शरीर की प्रधानता से उपादान कारण है। वैसे ही अज्ञानोपहित ब्रह्म (ईश्वर) अकेला ही माया द्वारा समस्त विश्व की रचना कर देता है, अतः वह सृष्टि के प्रति उपादान तथा निमित्त कारण दोनों है।

विवर्तवाद एवं परिणामवाद — किसी भी वस्तु के स्वरूप परिवर्तन को विवर्त अथवा परिणाम कहा जाता है। इसको वेदान्त विवर्तवाद तथा सांख्यशास्त्र परिणामवाद कहता है। यथा—रज्जु (रस्सी) का सर्प रूप में भासित होना विवर्त तथा दूध का अपना स्वरूप त्यागकर दही के रूप में परिणत हो जाना परिणाम है। अद्वैत वेदान्तानुसार जगत् को ब्रह्म का परिणाम नहीं स्वीकारा जा सकता, क्योंकि ऐसा मानने पर ब्रह्म भी दूध सदृश परिणामी हो जायेगा। अद्वैत में ब्रह्म कभी भी विकारी नहीं होता है। वस्तुतः ब्रह्म का जगत् रूप में परिवर्तन विक्षेप अथवा अध्यास मात्र है। अतः जगत् ब्रह्म का विवर्त मात्र है।

सृष्टि प्रक्रिया —वेदान्त दर्शन में सृष्टि के दो रूपों का वर्णन मिलता है— (1) समष्टि रूप (2) व्यष्टिरूप।

कारण शरीर — माया में जब सत्त्वगुण प्रधान होता है तथा शेष दोनों गुण रजस् तथा तमस् गौण होते हैं तब शुद्ध सत्त्व प्रधान उत्कृष्टोपाधि से आवृत्त चैतन्य समष्टि रूप 'ईश्वर' कहा जाता है। जब रजस् तथा तमस् से अभिभूत होने के कारण सत्त्व गुण मलिन हो जाता है, तब मलिन सत्त्व प्रधान निकृष्टोपाधि से उपहित—चैतन्य व्यष्टि रूप में 'प्राज्ञ' (जीव) कहा जाता है। अवस्था की दृष्टि से यह सुषुप्ति (कारणावस्था) अवस्था तथा 'कारण शरीर' कहा जाता है। आनन्द की आधिक्यता होने तथा कोश के समान चैतन्य का आच्छादक होने से इस का आनन्दमय कोश है।

सूक्ष्म शरीर :- सूक्ष्म शरीर सत्रह अवयवों—एकादश इन्द्रियाँ (श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा, घ्राण, वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ तथा मन), पंच वायु—प्राण, अपान, व्यान, उदान—समान तथा बुद्धि से युक्त है। वेदान्त के अनुसार पंच ज्ञानेन्द्रियों की उत्पत्ति आकाशादि सत्त्व, रजस्, तमस्, त्रिगुणात्मक, पंच महाभूतों के सात्विक अंश से क्रमशः होती है। यथा—आकाश से श्रोत्र, वायु से त्वक्, इसी प्रकार अन्य भी। आकाशादि पंचमहाभूतों के समष्टि सात्विकांश से बुद्धि की निश्चयात्मिका तथा मन की संकल्प—विकल्पात्मिका वृत्ति होती है। वेदान्तसार के अनुसार चित्त का बुद्धि में तथा अहंकार का मन में अन्तर्भाव हो जाता है। सूक्ष्म शरीर के ये सत्रह (17) अवयव तीन कोशों का निर्माण करते हैं—

विज्ञानमय कोश— निश्चयात्मिका बुद्धि पाँच ज्ञानेन्द्रियों के साथ मिलकर विज्ञानमय कोश कही जाती है।

मनोमय कोश— संकल्प—विकल्पालक मन पंच ज्ञानेन्द्रियों के साथ संयुक्त होकर मनोमय कोश कहा जाता है।

प्राणमय कोश— पंच वायु कर्मेन्द्रियों के साथ मिलकर 'प्राणमय कोश' है। ये तीनों कोश ही संयुक्त रूप से सूक्ष्मशरीर या लिंग शरीर कहे जाते हैं। सूक्ष्मशरीर की इस समष्टि से आवृत्त चैतन्य 'सूत्रात्मा' अथवा 'हिरण्यगर्भ' तथा व्यष्टि से आवृत्त चैतन्य 'तैजस्' कहलाता है। सूक्ष्म शरीर की यह अवस्था स्वप्नावस्था होती है।

पंचीकरण प्रक्रिया :- इस प्रक्रिया में आकाशादि प्रत्येक सूक्ष्म भूतों को दो—दो समान भागों में बाँटा जाता है। पुनः प्रत्येक के अर्धभाग को पुनः चार भागों में विभक्त किया जाता है। इस प्रकार एक सूक्ष्म भूत का अर्ध भाग तथा शेष सूक्ष्म भूतों में प्रत्येक का आठवाँ भाग मिलकर एक महाभूत बनता है। यथा—

द्विधा विधाय—चैकैकं चतुर्धा प्रथमं पुनः।

स्वस्वेतर द्वितीयांशैर्योजनात् पंच पंच ते ॥

पृथ्वी— $\frac{1}{2}$ पृथ्वी + $\frac{1}{8}$ जल + $\frac{1}{8}$ तेज + $\frac{1}{8}$ वायु + $\frac{1}{8}$ आकाश

जल— $\frac{1}{2}$ जल + $\frac{1}{8}$ तेज + $\frac{1}{8}$ वायु + $\frac{1}{8}$ आकाश + $\frac{1}{8}$ पृथ्वी

तेज— $\frac{1}{2}$ तेज + $\frac{1}{8}$ वायु + $\frac{1}{8}$ आकाश + $\frac{1}{8}$ पृथ्वी + $\frac{1}{8}$ जल

वायु— $\frac{1}{2}$ वायु + $\frac{1}{8}$ आकाश + $\frac{1}{8}$ पृथ्वी + $\frac{1}{8}$ जल + $\frac{1}{8}$ तेज

आकाश— $\frac{1}{2}$ आकाश + $\frac{1}{8}$ पृथ्वी + $\frac{1}{8}$ जल + $\frac{1}{8}$ तेज + $\frac{1}{8}$ वायु

इसी प्रक्रिया को पंचीकृत स्थूल भूत कहा जाता है—

स्थूल शरीर :- पंचीकृत भूतों से चौदह लोक, समस्त ब्रह्माण्ड, चतुर्विध स्थूल शरीर—जरायुज, अण्डज, उद्भिज तथा स्वदेज व उनके भोग्य पदार्थ उत्पन्न होते हैं। इन चतुर्विध स्थूल सृष्टि की समष्टि से आवृत्त चैतन्य 'वैश्वानर' या 'विराट' कहा जाता है तथा इन स्थूल शरीरों की व्यष्टि से आवृत्त चैतन्य 'विश्व' कहा जाता है। इसकी अवस्था जाग्रत तथा कोश अन्नमय है।

महावाक्य :-

वेदान्त में महावाक्यों का विशेष महत्त्व है। यथार्थतः ब्रह्म के अद्वैत रूप का निर्देश करने वाले औपनिषदिक वाक्य महावाक्य हैं। बिना इन महावाक्यों की सहायता के किसी भी प्राणी को अद्वैत का

ज्ञान नहीं हो सकता— 'बिना महावाक्यमतो न कश्चित्पुमांसमद्वैतमवैति जन्तुः।' विद्यारण्य स्वामी महावाक्यों की संख्या चार बताते हैं; जो चारों वेदों से एक-एक लिये गये हैं—(1) प्रज्ञानं ब्रह्म (ऐतरेय0 5/3) (2) अहं ब्रह्मास्मि (बृहदा0 1/4/10) (3) तत्त्वमसि (छान्दो0 6/8/7) (4) अयमात्मा ब्रह्म (माण्डूक्य02)।

वेदान्तसार में केवल 'तत्त्वमसि' तथा 'अहं ब्रह्मास्मि' दो महावाक्यों का विवेचन है। इनमें 'तत्त्वमसि' उपदेश वाक्य तथा 'अहं ब्रह्मास्मि' अनुभव वाक्य है। तत्त्वमसि महावाक्य तीन सम्बन्धों द्वारा अखण्ड ब्रह्म रूप अर्थ का बोधक है। वे तीनों सम्बन्ध इस प्रकार हैं— 1. समानाधिकरण सम्बन्ध 2. विशेषण-विशेष्य भाव सम्बन्ध 3. लक्ष्य-लक्षण भाव सम्बन्ध।

जब अध्यारोप एवं अपवाद द्वारा 'तत्' और त्वम् पदों के अर्थ का बोध कर 'तत्त्वमसि' महावाक्य द्वारा अखण्ड ब्रह्म रूप अर्थ का अवबोध हो जाता है, तब जिज्ञासु के चित्त में— 'मैं नित्य शुद्ध-बुद्ध मुक्त, सत्यस्वभाव, परमानन्द रूप, अनन्त अद्वितीय ब्रह्म हूँ', ऐसी अखण्डाकाराकारित चित्तवृत्ति का उदय होता है। तब चित्तवृत्ति चिदात्मा के प्रतिबिम्ब से प्रतिबिम्बित होती हुई प्रत्यगात्मा से अभिन्न परब्रह्म को अपना विषय बनाकर ब्रह्म-विषयक अज्ञान को नष्ट कर देती है, तब जगत् के कारण भूत अज्ञान के नष्ट हो जाने पर जगत् का विनाश हो जाता है। यथा-तन्तु नाश हो जाने पर पट का नाश हो जाता। इस प्रकार उपाधिभूता चित्तवृत्ति के नष्ट हो जाने पर 'ब्रह्ममात्र' शेष रह जाता है। यही स्थिति 'अहं ब्रह्मास्मि' की अनुभूति वाली है।

मोक्ष :- वेदान्तदर्शन मतानुसार अखण्ड ब्रह्म का ज्ञान हो जाने पर जब अज्ञान और उसके कार्य जगत् का नाश हो जाता है, तब जगत् के अन्तर्गत रहने वाली अखण्डाकाराकारित चित्तवृत्ति भी नष्ट हो जाती है। उस क्षण केवल ब्रह्ममात्र ही शेष रहता है। इसे वेदान्त में मोक्ष कहते हैं। मोक्ष प्राप्ति के दो साधन कहे गये हैं— (1) बहिरंग (2) अन्तरंग। मोक्षप्राप्ति के बहिरंग साधन चार हैं :-

(1) नित्यानित्यवस्तु विवेक (2) वैराग्य (3) शमादिषट् सम्पत्ति (4) मुमुक्षा। इन्हीं को साधन चतुष्टय कहते हैं। अन्तरंग साधन भी चार हैं—श्रवण, मनन, निदिध्यासन और समाधि। वेदान्त में समाधि दो प्रकार की बतलाई गई है— (1) सविकल्पक समाधि (2) निर्विकल्पक समाधि

जीवन्मुक्ति, जीवन्मुक्त तथा विदेहमुक्त

वेदान्ती ही नहीं अपितु समस्त दार्शनिकों की यह धारणा रही है कि ज्ञानप्राप्ति के पश्चात् भी जीव कुछ समय तक शरीर धारण किये रहता है, जिससे भोग के द्वारा प्रारब्ध कर्म समाप्त हो जायें, यही जीवन्मुक्ति की स्थिति है। अखण्ड ब्रह्म के साक्षात्कार के उपरान्त अज्ञान और उसके कार्य स्थूल तथा सूक्ष्म प्रपंच, संचितकर्म, संशय, विपर्यय ज्ञान का नाश होने पर ब्रह्मवेता पुरुष जीवित रहते हुए ही समस्त सांसारिक बन्धनों से मुक्त हो जाता है। इस तरह वह (ब्रह्मवेता पुरुष) जीवन्मुक्त कहा जाता है। जीवन्मुक्त पुरुष का जब शरीरपात हो जाता है, तब वह विदेहमुक्त हो जाता है।

(3.5) संदर्भित पुस्तकें :-

- | | |
|------------------------------|------------------------------------------------------|
| 1. वेदान्तसार | डॉ० कृष्ण अवतार बाजपेयी
डॉ० (श्रीमती) सुधा गुप्ता |
| 2. वेदान्तसार | डॉ० एच०एन० यादव
डॉ० रेखा कौशल |
| 3. वेदान्तसार | डॉ० कृष्णकान्त त्रिपाठी
प्रो० किरणलता क्षत्री |
| 4. वेदान्तदर्शनम्—वेदान्तसार | डॉ० मिथिलेश पाण्डेय
डॉ० रत्ना पाण्डेय |
| 5. वेदान्तसार | महेश चन्द्र भारतीय |
| 6. वेदान्तसार | स्वामी निखिलानन्द |

(3.6) बोध प्रश्न :-

(3.6.1) बोध प्रश्न (दीर्घ उत्तरीय):-

1. प्रश्न:- वेदान्त सम्मत अनुबन्धों पर प्रकाश डालिए।

अथवा

वेदान्तसार के अनुसार अनुबन्ध चतुष्टय का निरूपण कीजिए।

उत्तर:-जब भी कोई ग्रन्थ प्रारम्भ किया जाता है, तब मुख्यतः चार प्रश्न उभरते हैं कि-

1. ग्रन्थार्थ को ग्रहण करने की योग्यता रखने वाले सुयोग्य पात्र के बिना ग्रन्थ रचना कैसे सफल होगी? अतः इसका अधिकारी कौन हो सकता है?
2. विषय स्पष्ट हुए बिना अधिकारी की रुचि नहीं होगी। अतः उसके विषय की अपेक्षा है कि ग्रन्थ में कौन सा विषय प्रतिपादित किया गया है?
3. विषय तथा ग्रन्थ में परस्पर सम्बन्ध क्या है?
4. ग्रन्थ पढ़ने का क्या प्रयोजन है?

उपर्युक्त प्रश्नों के उत्तरों को अनुबन्ध नाम दिया गया है। इस प्रकार अनुबन्ध से तात्पर्य वह सातत्य परम्परा है, जिससे सम्बद्ध होकर ग्रन्थकार द्वारा ग्रन्थ की रचना प्रारम्भ की जाती है। अनुबन्ध चार हैं-

‘तत्रानुबन्धोनामाधिकारिविषयसम्बन्धप्रयोजनानि।’

1. अधिकारी :- वेदान्त का अधिकारी तो वहीं हो सकता है :-

क) जिसने (इस जन्म या पूर्वजन्म में पहले) वेद-वेदान्तों (वेदांग-शिक्षा, कल्प, निरुक्त, छन्द, व्याकरण, ज्योतिष) का गहन अध्ययन कर वेदों के सम्पूर्ण अर्थज्ञान को प्राप्त कर लिया हो।

ख) जो काम्य व शास्त्र निषिद्ध कर्मों का पूर्णतः परित्याग कर चुका है—काम्य कर्म— किसी विशेष उद्देश्य तथा भावी फल प्राप्ति की दृष्टि से किये जाने वाले धर्मानुष्ठान काम्य-कर्म हैं। यथा—स्वर्गप्राप्ति

की कामना से किया जाने वाला ज्योतिष्टोम यज्ञ। **निषिद्ध कर्म**— ब्रह्महत्या, गोहत्यादि कर्म, जो नरकादि अशुभ फलप्राप्ति के हेतु हैं, निषिद्ध कर्म हैं।

ग) जिसका अन्तःकरण नित्य, नैमित्तिक, प्रायश्चित्त तथा उपासना कर्मों के अनुष्ठान से समस्त काम—क्रोधादि कल्मषों की निवृत्तिपूर्वक नितान्त निर्मल हो गया हो। **नित्यकर्म**—सन्ध्यावन्दनादि अपरिहार्य रूप से प्रतिदिन किये जाने वाले आवश्यक कर्तव्य **नित्यकर्म** है। **नैमित्तिक कर्मा**— किसी विशेष उद्देश्य पूर्ति हेतु नियमित रूप से किया जाने वाला अनुष्ठान नैमित्तिक कर्म है। **प्रायश्चित्त कर्म** — पापाचरण उद्भूत दोषों से निवृत्ति साधन रूप चन्द्रायणादि प्रायश्चित्त कर्म अथवा पापनिवृत्ति हेतु की गयी धार्मिक साधना प्रायश्चित्त कर्म है। **उपासना कर्म**—चित्त की एकाग्रता किये जाने वाले शाण्डिल्य विद्या आदिकर्म उपासना कर्म हैं।

घ) जो साधन चतुष्टय से युक्त हो। वेदान्त के अनुसार साधन चतुष्टय इस प्रकार हैं —

अ) **नित्यानित्य वस्तु विवेक** — उत्पत्ति—विनाश से रहित, सर्वदा विद्यमान, आदि—अन्त रहित वस्तु नित्य है, इसके विरुद्ध काल से सदा बाधित वस्तुएँ अनित्य हैं। अतः केवल ब्रह्म ही नित्य वस्तु है, अन्य सब अनित्य है। इसका विवेचन ही नित्यानित्यवस्तुविवेक है। ब) **इहामुत्रार्थफलभोगविराग**— इस लोक में तथा परलोक में उपलब्ध होने वाले पदार्थ (भोग) कर्म से उत्पन्न होने से फल हैं, उन प्राप्त फलों के भोगों के प्रति उदासीन भाव ही इहामुत्रार्थफलभोगविराग है। स) **षट्क सम्पत्ति** —शम—दम—उपरति—तितिक्षा—समाधान—श्रद्धा नामक छः सम्पत्तियाँ वेदान्त प्रमाता के लिए आवश्यक हैं— **शम**— मन को भौतिक विषयों से रोकने वाली चेष्टा या वृत्ति को 'शम' कहते हैं। ये विषय श्रवणादि से भिन्न शब्दादि (शब्द—स्पर्श—रूप—रस—गन्ध) नामक भौतिक विषय हैं। **दम**— ब्रह्म साक्षात्कार के साधन श्रवणादि से अतिरिक्त विषयों से बाह्येन्द्रियों को पृथक् करने का नाम दम है। **उपरति**— शब्दादि विषयों से नियन्त्रित की हुई इन्द्रियों का ब्रह्म से अतिरिक्त विषयों से निरोध अथवा शास्त्र विहित कर्मों का विधिपूर्वक परित्याग उपरति है। **तितिक्षा**— शीत—ऊष्ण, मान—अपमान, लाभ—हानि, शोक—हर्ष, आदि द्वन्द्वों को सहन करना तितिक्षा है। **समाधान**— श्रवण, मननादि द्वारा वशीभूत मन को एकाग्र करके चिन्तन आदि से समाधिस्थ हो जाना समाधान है। **श्रद्धा**—गुरु के प्रत्येक कथन में विश्वास रखना श्रद्धा है।

द) **मुमुक्षुत्व**—मुमुक्षु का अर्थ है— मोक्ष की अभिलाषा वाला तथा मुमुक्षुत्व का आशय है—मोक्षाभिलाषी होना।

2. **विषय** :- जीव तथा ब्रह्म के ऐक्य में ही सम्पूर्ण वेदान्त ग्रन्थों का तात्पर्य निहित है, यही वेदान्त का व्याख्येय विषय है।

3. **सम्बन्ध** :- जीव तथा ब्रह्म के ऐक्य रूप लक्ष्य (प्रमेय) का और उसके प्रतिपादक उपनिषद् वाक्यों का परस्पर बोध्य—बोधक (ज्ञेय—ज्ञापक) भाव ही सम्बन्ध है।

4. **प्रयोजन** :- वेदान्त का प्रयोजन है, जीव तथा ब्रह्म के ऐक्य रूप प्रमेय के विषय में विद्यमान अज्ञान की निवृत्ति तथा अपने यथार्थस्वरूप आनन्द की प्राप्ति। इस सम्बन्ध में 'आत्मा को जान' लेने वाला पुरुष शोक को पार कर जाता है — (छान्दो0) तथा 'ब्रह्म' के वास्तविक स्वरूप का ज्ञाता ब्रह्म ही हो

जाता है'—(मुण्ड0 3/2/9) इत्यादि श्रुति—वाक्य प्रमाण हैं। अज्ञानावरण के दूर होजाने पर सच्चिदानन्द ब्रह्म की प्राप्ति होती है। यही इसका प्रयोजन है। संक्षेप में यही वेदान्तसम्मत अनुबन्ध चतुष्टय हैं।

2. प्रश्न :- वेदान्त के अनुसार सृष्टि—प्रक्रिया की विवेचना कीजिए।

उत्तर :- वेदान्त दर्शन में सृष्टि के दो रूपों का वर्णन मिलता है— 1. समष्टि रूप, 2.व्यष्टि रूप। इन दोनों रूपों में क्रमशः सृष्टि प्रक्रिया इसप्रकार है—

कारण शरीर — माया में जब सत्त्वगुण प्रधान होता है तथा शेष दोनों गुण रजस् एवं तमस् गौड़ होते हैं; तब शुद्ध सत्त्व प्रधान उत्कृष्टोपाधि से आवृत्त चैतन्य समष्टि रूप ईश्वर कहा जाता है। यह समष्टि रूप ईश्वर सम्पूर्ण सृष्टि का कारण होने से कारण शरीर है। आनन्द के आधिक्य से युक्त एवं कोश के समान चैतन्य का आच्छादक होने से इसको आनन्दमयकोश कहते हैं। जब रजस् तथा तमस् से अभिभूत होने के कारण सत्त्व गुण मलिन हो जाता है, तब मलिन सत्त्व प्रधान निकृष्टोपाधि से उपहित चैतन्य व्यष्टि रूप में प्राज्ञ (जीव) कहा जाता है। यह जीव माया का वशवर्ती होने के कारण अल्पज्ञ होता है। इस जीव की उपाधिभूता व्यष्टि को भी कारण शरीर कहा जाता है। आनन्द का आधिक्य होने से और चैतन्य का आच्छादक होने से इसको भी आनन्दमय कोश कहते हैं। ईश्वर तथा जीव ये दोनों मायोपहित चैतन्य की सूक्ष्मतम अवस्थाएँ हैं। इसमें सूक्ष्म एवं स्थूल प्रपंचों का लय होता है। अतः इसको सुषुप्ति भी कहा जाता है। सुषुप्ति में स्वप्न तथा जागरण के विलीन हो जाने पर ईश्वर तथा जीव दोनों अज्ञान के अभिभूत होकर आनन्द का अनुभव करते हैं। यथार्थ में ईश्वर और जीव दोनों एक हैं, उपाधि भेद से दोना अलग—अलग प्रतीत होते हैं।

सूक्ष्मशरीर :- तमोगुण प्रधान विक्षेप शक्ति के द्वारा मायोपहित चैतन्य से आकाश की उत्पत्ति होती है, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथ्वी की उद्भावना होती है। यही आकाशादि सूक्ष्मभूत कहे जाते हैं। इन आकाशादि पञ्चभूतों में सत्त्व, रजस् एवं तमस् त्रयगुण प्रत्येक में विद्यमान हैं। इन पृथक्—पृथक् भूतों के सात्त्विकांश से पृथक्—पृथक् इन्द्रियाँ उत्पन्न होती है। यथा—आकाश से श्रोत्र, वायु से त्वक् आदि क्रमशः अन्य भी आकाशादि पञ्चभूतों के समष्टि सात्त्विकांश से बुद्धि, मन, अहंकार और चित्त नामक अन्तःकरण की वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं। बुद्धि निश्चयात्मिका वृत्ति तथा मन संकल्प विकल्पात्मिका वृत्ति से युक्त है। चित्त का बुद्धि में तथा अहंकार का मन में अन्तर्भाव हो जाता है। यह निश्चयात्मिका बुद्धि पाँच ज्ञानेन्द्रियों के साथ मिलकर 'विज्ञानमय कोश' कही जाती है। विज्ञानमय कोश से परिच्छिन्न चैतन्य ही जीव कहा जाता है। यह विज्ञानमय कोश ज्ञानशक्ति से युक्त होने के कारण कर्त्ता रूप है, विमर्शात्मक मन पञ्च ज्ञानेन्द्रियों के साथ संयुक्त होकर 'मनोमय कोश' कहा जाता है। जैसा कि कहा गया है—

आकाशादि पञ्चभूतों के रजोगुणांश से पृथक्—पृथक् व्यष्टि रूप में वाक् पाणि—पाद—पायु तथा उपस्थ पञ्च कर्मेन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं। इन्हीं आकाशादि पञ्चभूतों के रजोगुणांश से समष्टि रूप में क्रमशः प्राण—अपान—व्यान—उदान और समान पञ्च वायु उत्पन्न होते हैं। पञ्च वायु कर्मेन्द्रियों के साथ मिलकर 'प्राणमय कोश' निर्मित करते हैं। विज्ञानमय, मनोमय तथा प्राणमय कोश ही संयुक्त रूप से 'सूक्ष्म शरीर'

कहे जाते हैं। इस शरीर में ज्ञान, क्रिया एवं इच्छा ये तीनों शक्तियाँ विद्यमान रहती हैं। 'सूक्ष्म शरीर' की इस समष्टि से आवृत्त चैतन्य 'सूत्रात्मा' अथवा 'हिरण्यगर्भ', कहा जाता है। इसी शरीर की व्यष्टि से आवृत्त चैतन्य तैजस् कहलाता है। सूक्ष्मशरीर की यह स्वप्नावस्था होती है।

पंचीकरण प्रक्रिया:— इस प्रक्रिया में आकाशादि से प्रत्येक पञ्च सूक्ष्म भूतों को दो-दो समान भागों में बँटा गया है, उनमें से प्रत्येक के अर्द्धभाग को पुनः चार भागों में विभक्त किया गया है। एक सूक्ष्म भूत का अर्द्ध भाग तथा शेष सूक्ष्म भूतों में प्रत्येक का आठवाँ भाग मिलकर एक महाभूत बनता है। इसी प्रक्रिया को पंचीकृत स्थूल भूत कहा जाता है। यथा—

द्विधा विधाय चैकैकं चतुर्धा प्रथमं पुनः।

स्वस्वेतरद्वितीयांशैर्योजनात् पञ्च-पञ्च ते।।

स्थूलशरीर :- इन पंचीकृत पञ्च महा भूतों से चौदह लोक, समस्त ब्रह्माण्ड, चतुर्विध (जरायुज, अण्डज, उद्भिज्ज, और स्वेदज) स्थूल शरीर और उनके भोग्य पदार्थ उत्पन्न होते हैं। मनुष्य, पशु आदि जरायुज, पक्षी सर्पादि अण्डज, पसीना से पैदा होने वाले जुआँ, चीलरादि स्वेदज, तथा पृथ्वी फोड़कर निकलने वाले वृक्ष, झाड़ी लताएँ आदि उद्भिज्ज कहे जाते हैं। इन स्थूल शरीरों की समष्टि से उपहित चैतन्य सभी प्राणियों का अभिमानी (अधिष्ठाता) होने के कारण 'वैश्वानर' और अनेक रूपों में (मनुष्य, देव, असुर, पशु-पक्षी आदि) विद्यमान होने के कारण 'विराट्' कहलाता है।

इस भाँति कारणशरीर और सूक्ष्म शरीर मिलकर स्थूल शरीर को उत्पन्न करते हैं। यह जीव की जागरणावस्था है। इस अवस्था में जीव विषयों का भोग करता है। स्थूल शरीर को ही अन्नमय कोश कहते हैं। इस प्रकार कारण सृष्टि, सूक्ष्म सृष्टि तथा स्थूल सृष्टि इन तीन प्रकार की सृष्टियों की समष्टि से एक महाप्रपञ्च बनता है। यह समस्त प्रपञ्च ब्रह्म ही है— 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म।' इसमें रहने वाले ईश्वर प्राज्ञ, सूत्रात्मा-तैजस् तथा 'वैश्वानर-विराट्' आदि उपाधि भेद से भी भिन्न-भिन्न प्रतीत होते हैं। तात्त्विक दृष्टि से तो सभी एक ही हैं।

संक्षेप में, वेदान्त की यही सृष्टि प्रक्रिया है।

(3.6.2) बोध प्रश्न (लघु उत्तरीय)

1. प्रश्न— वेदान्तसम्मत अज्ञान के स्वरूप की स्पष्ट विवेचना प्रस्तुत कीजिए।

उत्तर :- अद्वैत वेदान्तानुसार परब्रह्म अपनी माया (अज्ञान) शक्ति द्वारा प्रपञ्चात्मक जगत् को उत्पन्न करते हैं अर्थात् विश्व माया (अज्ञान) शक्ति का प्रपञ्चात्मक परिणाम है, जो परब्रह्म की दिव्य शक्ति है। अज्ञान की अनेकता के कारण वह परमेश्वर अनेक रूपों में भासता है। आचार्य शंकर के अनुसार यह अज्ञान न तो ब्रह्म के समान सत् (यथार्थ) है और न आकाश कुसुम के समान 'असत्' (अयथार्थ) है। यह परब्रह्म की अविद्या रूपी बीज शक्ति अव्यक्त नाम रूप भी है।

वेदान्त के अनुसार अज्ञान का स्वरूप इस प्रकार है—

'अज्ञान तु सदसद्भ्यामनिर्वचनीयं त्रिगुणात्मकं ज्ञानविरोधि भावरूपम यत्किञ्चिदिति।'

वेदान्तानुसार यह अज्ञान सत् एवं असत् दोनों से परे अनिर्वचनीय है— ‘सदसदभ्यामनिर्वचनीयम्’ क्योंकि यदि इसको सत् कहते हैं, तब चिदात्मा के समान इसका कभी बाध नहीं होना चाहिए, जबकि तत्त्व ज्ञान से अज्ञान (माया) का बाध देखा जाता है। अगर अज्ञान को असत् कहेंगे तब बन्ध्यापुत्र या शशविषाण सदृश उसकी कभी भी प्रतीति नहीं होगी, क्योंकि ‘असत्’ वस्तु की प्रतीति नहीं होती—‘सच्चेन्न बाध्येत् असच्चेन्न प्रतीयेत।’ इसे (अज्ञान) ‘सदसत्’ उभयरूप भी नहीं कह सकते, क्योंकि सत् और असत् परस्पर विरोधी होने के कारण ऐसा कहना उचित नहीं है, अतः अज्ञान को सत् और असत् दोनों से विलक्षण अनिर्वचनीय कहना ही उचित है।

त्रिगुणात्मक — छान्दोग्योपनिषद् में कहा गया है कि जब कार्य लोहितशुक्लकृष्णरूपात्मक है, तब उसका कारण रूप व्याकृत अज्ञान भी त्रिगुणात्मक होगा। श्वेताश्वतरोपनिषद् के अनुसार सत्त्व, रजस्, तमस् तीनों गुण माया (अज्ञान) के विशेषण होते हुए भी माया (अज्ञान) के स्वरूप हैं—

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः, सृजमानां सरूपाम् ॥ श्वेता 0 4/5

त्रिगुणात्मक अज्ञान (माया), सांख्य की प्रकृति की भाँति स्वतन्त्र नहीं है, अपितु ईश्वराश्रित है। ईश्वर की सर्जना शक्ति है।

ज्ञानविरोधी तथा भावरूप :- अज्ञान ज्ञान का विरोधी, भावरूप पदार्थ है, अभाव रूप नहीं; क्योंकि यदि वह अभाव रूप हो तब उसकी निवृत्ति का कोई प्रश्न ही नहीं है। भाव रूप होने पर ही निवृत्ति सम्भव है। अतः अज्ञान भावरूप है, जिसकी निवृत्ति सम्भव है। आचार्य शंकर इस जगत् को पूर्णतः मिथ्या मानते हैं। जिस प्रकार मृग-तृष्णिका में जो जल दृष्टिगोचर होता है, वह असत् है, मिथ्या है। उसी भाँति यह दृश्यमान जगत् असत् है, मिथ्या है, भ्रम है। यथार्थ में ब्रह्म ही परमार्थ सत् है। मायावश या अज्ञानवश वह जगत् रूप में भासित होता है। विश्व ब्रह्म का परिणाम नहीं, विवर्त है।

उपाधि तथा कार्यभेद से इसे अनेक नामों से व्यवहृत किया जाता है। विद्या का विरोधी होने से इसको अविद्या अथवा अज्ञान कहते हैं। प्रपंच रूप संसार का उपादान कारण होने से इसको प्रकृति कहा जाता है। मिथ्या अर्थ में माया है अर्थात् जो वस्तुतः नहीं है, किन्तु भ्रमवश सत्य प्रतीत होती है, वह माया है।

अज्ञान की शक्तियाँ:-अज्ञान की दो शक्तियाँ हैं—‘अस्याज्ञानस्यावरणविक्षेपनामकमस्ति शक्तिद्वयम्।’

(1) आवरण शक्ति (2) विक्षेप शक्ति। यथा—

आवरण शक्ति :- आवरण का शाब्दिक अर्थ है— आच्छादन अर्थात् किसी वस्तु के यथार्थ स्वरूप को ढक लेना आवरण है। अज्ञान आवरण शक्ति के द्वारा आत्मा के सत्, चित् व आनन्द स्वरूप को आवृत्त कर लेता है, अतः उसको आवरण शक्ति कहते हैं—

‘सच्चिदानन्दस्वरूपमावृणोतीत्यावरणशक्तिः’—सुबोधिनी। यथा—बादल का एक छोटा सा टुकड़ा दर्शक की दृष्टि ढक लेने के कारण अनेक योजन विस्तृत सूर्य मण्डल को ढक लेता है, वैसे ही आवरण शक्ति से युक्त अज्ञान परिच्छिन्न होने पर भी प्रमाता की बुद्धि को ढक लेने के कारण अपरिच्छिन्न असंसारी आत्मा को ढक लेता है, तब इसी आच्छादन शक्ति को आवरण शक्ति कहते हैं।

विक्षेप शक्ति :- विक्षेप का अर्थ है—मिथ्या का आरोप करना अर्थात् वस्तु के मूल स्वरूप पर किसी दूसरी वस्तु का आरोप करना विक्षेप है। 'विक्षेपशक्तिर्लिङ्गादि ब्रह्माण्डान्तं जगत्सृजत्।' जैसे—अज्ञान से आच्छादित रस्सी में अज्ञान अपनी विक्षेप शक्ति द्वारा सर्प का भ्रम उत्पन्न कर देता है, वैसे ही माया (अज्ञान) भी स्वयं से आच्छादित आत्मा में विक्षेप शक्ति द्वारा आकाशादि जगत् प्रपंच को उत्पन्न करती है। इस प्रकार आवरण शक्ति ब्रह्म को आच्छादित कर देती है तथा विक्षेप शक्ति ब्रह्माण्डादि से स्तम्बपर्यन्त जगत् की सृष्टि करती है अर्थात् आवरण शक्ति द्वारा ब्रह्म का 'सत्' रूप आवृत्त हो जाता है तथा विक्षेप द्वारा असत्, रूप जगत् का आभास होता है। वस्तुतः पारमार्थिक दृष्टि से जगत् मिथ्या है, असत्य है।

2. प्रश्न :- वेदान्तसम्मत उपदेश महावाक्य—'तत्त्वमसि' पर प्रकाश डालिए।

अथवा

'वेदान्तसम्मत उपदेश महावाक्य तत्त्वमसि' की मीमांसा कीजिए।

उत्तर :- वेद में दो प्रकार के वाक्य हैं—(1) अवान्तर्वाक्य तथा (2) महावाक्य। आत्मा के स्वरूप का बोधक वाक्य अवान्तर्वाक्य कहलाता है—'स्वरूपबोधकं वाक्यमवान्तर्वाक्यम्', तथा अभेद का बोधक वाक्य महावाक्य कहलाता है। 'अभेदबोधकं वाक्यं महावाक्यम्', जैसे—'अयमात्मा ब्रह्म' या 'तत्त्वमसि'। यह 'तत्त्वमसि' महावाक्य तीन सम्बन्धों द्वारा अखण्ड ब्रह्म रूप अर्थ का बोधक होता है। वे तीनों सम्बन्ध इस प्रकार हैं—

समानाधिकरण्यं च विशेषणविशेष्यता।

लक्ष्यलक्षणसम्बन्धः पदार्थप्रत्यगात्मनाम्।।

- 1. समानाधिकरण्य सम्बन्ध :-** जब दो भिन्न-भिन्न प्रवृत्ति निमित्त वाले शब्दों का एक ही अर्थ में तात्पर्य सम्बन्ध (प्रयोग) हो तब उसको समानाधिकरण्य सम्बन्ध कहते हैं— 'भिन्न प्रवृत्तिनिमित्तानां शब्दानां कस्मिन्नर्थे तात्पर्य सम्बन्धः समानाधिकरण्यम्'—विद्वन्मनोरंजनी। यथा—'सोऽयं देवदत्तः'— इस कथन में 'सः' पद भूतकाल विशिष्ट देवदत्त का वाचक है तथा अयम् पद वर्तमान काल विशिष्ट देवदत्त का वाचक है। इस भाँति भिन्न प्रवृत्ति निमित्त वाले सः और अयम् दोनों पद एक ही व्यक्ति देवदत्त में तात्पर्य होने से दोनों का समानाधिकरण्य माना जाता है। उसी भाँति यहाँ 'तत्त्वमसि' वाक्य में 'तत्' पद परोक्षत्व सर्वज्ञत्वादि विशिष्ट चैतन्य का वाचक है तथा 'त्वम्' पद—अपरोक्षत्वादि विशिष्ट चैतन्य (जीव) का वाचक है। इस तरह भिन्न प्रवृत्ति निमित्त वाले 'तत्' और 'त्वम्' दोनों पदों का तात्पर्य एक ही चैतन्य में होने से दोनों में समानाधिकरण्य सम्बन्ध है।
- 2. विशेषण विशेष्य भाव सम्बन्ध :-** शब्द जब अपने वाच्यार्थ रूप विशेष्य को अन्य शब्दों के वाच्यार्थ से व्यावृत्त (पृथक्) करता है, तब उसको विशेषण कहते हैं तथा जो शब्दार्थ व्यावृत्त होता है, उसको विशेष्य कहते हैं। यथा—'सोऽयं देवदत्तः' इस वाक्य में 'सः' पद का वाच्यार्थ तत्काल विशिष्ट देवदत्त तथा 'अयम्' पद का वाच्यार्थ एतत्काल (वर्तमान काल) विशिष्ट देवदत्त में पारस्परिक भेद का व्यावर्तक होने के कारण विशेषण—विशेष्य भाव सम्बन्ध है। यहाँ सः पद का वाच्यार्थ अयम् पद के

वाच्यार्थ में रहने वाले भेद का व्यापत्क होने से विशेषण है तथा अयम् पद का वाच्यार्थ विशेष्य है। इसी तरह 'तत्त्वमसि' महावाक्य में 'त्वम्' पद का वाच्यार्थ अपरोक्षत्व विशिष्ट चैतन्य 'तुम वही हो' इस रूप में और 'तत्' पद का वाच्यार्थ परोक्षत्व विशिष्ट चैतन्य अभिन्न प्रतीत होते हैं, तब 'तत्' पद का वाच्यार्थ 'त्वम्' पद के वाच्यार्थ में रहने वाले भेद का व्यावर्त्क होने से विशेषण बनता है तथा 'त्वम्' पद का वाच्यार्थ विशेष्य बनता है। इसी भाँति जब 'तत्' पद का वाच्यार्थ अपरोक्षत्व विशिष्ट चैतन्य से अभिन्न प्रतीत होता है तब 'त्वम्' पद का वाच्यार्थ 'तत्' पद में रहने वाले भेद का व्यावर्त्क होने से विशेषण बनता है और 'तत्' पद का वाच्यार्थ विशेष्य बनता है। अतः यहाँ इन दोनों पदों में विशेषण विशेष्य भाव सम्बन्ध स्थापित होता है।

3. **लक्ष्यलक्षणभाव सम्बन्ध :-** 'सोऽय देवदत्तः' वाक्य में 'सः' पद और 'अयम्' पद के वाच्यार्थ के तत्काल विशिष्टत्व और एतत्काल विशिष्टत्व रूप विरुद्धांश का परित्याग कर अविरुद्धांश देवदत्त के साथ जो लक्ष्यलक्षण भाव सम्बन्ध होता है, वह लक्ष्यलक्षण भाव सम्बन्ध कहलाता है। इसी तरह 'तत्त्वमसि' वाक्य में अखण्डार्थ बोध के लिए लक्षणा का आश्रय लिया जाता है, क्योंकि तत्त्वमसि का अर्थ बोध लक्षणा से ही अभीष्ट है। यह लक्षणा तीन प्रकार की है—

(I) जहल्लक्षणा (II) अजहल्लक्षणा (III) जहदजहल्लक्षणा। इनसे जहदजहल्लक्षणा को भाग लक्षणा भी कहा जाता है।

(I) **जहल्लक्षणा :-** जहत् अर्थात् स्व वाच्यार्थ का परित्याग करती हुई दूसरे सम्बद्धार्थ को लक्षित कराने वाली लक्षणा को जहल्लक्षणा कहते हैं। यथा—'गंगायां घोषः'— यहाँ गंगा पद स्व—वाच्यार्थ गंगा प्रवाह को छोड़कर उससे सम्बद्धार्थ गंगा तट का बोध कराता है। 'तत्त्वमसि' वाक्य में जहल्लक्षणा की संगति सम्भव नहीं हो सकती, क्योंकि यहाँ 'तत्त्वमसि' वाक्य में परोक्षत्वादिविशिष्ट चैतन्य तथा अपरोक्षत्वादि विशिष्ट चैतन्य का अभेद रूप वाक्यार्थ के मात्र एक अंश में विरोध है। इसलिए ऐसा ठीक नहीं है कि अविरुद्ध भाग को भी त्यागकर यहाँ पूर्णतः अन्य अर्थ में लक्षणा मानी जाय।

(II) **अजहल्लक्षणा :-** अजहत् अर्थात् स्व—वाच्यार्थ का परित्याग न करती हुई, दूसरे सम्बद्धार्थ को लक्षित कराने वाली लक्षणा को अजहल्लक्षणा कहते हैं। यथा—'शोणो धावति' इस वाक्य का अर्थ है कि 'लाल रंग दौड़ रहा है', किन्तु लाल रंग का दौड़ना अभीष्ट नहीं है। इसलिए यहाँ लाल रंग का अर्थ है—लाल रंग वाला घोड़ा दौड़ता है। इस वाक्य में 'शोण' शब्द स्ववाच्यार्थ 'लाल रंग' के साथ तत्सम्बद्ध लाल रंग के घोड़े का लक्षणा वृत्ति से ज्ञान कराता है। यही अजहल्लक्षणा वृत्ति है; किन्तु 'तत्त्वमसि' वाक्य में परोक्षत्वादिविशिष्ट चैतन्य और अपरोक्षत्वादिविशिष्ट चैतन्य के अभिन्न रूप जो मुख्यार्थ है, उसका विरोधी होने के कारण मुख्यार्थ को न त्यागते हुए उससे सम्बद्ध किसी अर्थ को लक्षणा द्वारा लक्षित करा भी दिया जाए फिर भी उस विरोध के निराकरण के सम्भव न होने के कारण अजहल्लक्षणा अभीष्ट नहीं हो सकती है।

(III) **जहदजहल्लक्षणा :-** जहत् स्ववाच्यार्थ के एकांश को त्यागती हुई, स्ववाच्यार्थ के अन्यांश को बिना छोड़े हुए दूसरे सम्बद्धार्थ को लक्षित कराने वाली वृत्ति जहदजहल्लक्षणा कहलाती है। इसी को भाग

लक्षणा भी बताया गया है। 'तत्त्वमसि महावाक्य में जहद् व अजहल्लक्षणा अभीष्ट नहीं है, उसके लिए मात्र भाग लक्षणा (जहदजहल्लक्षणा वृत्ति) ही उपयुक्त है। पंचदशी में कहा गया है कि—

'तत्त्वमस्यादि वाक्येषु लक्षणा भागलक्षणा।

सोऽयमित्यादिवाक्यस्थ पदयोरिव नापरा।।'

जैसे 'सोऽयं देवदत्तः'—यह वाक्य या इसका वाच्यार्थ 'भूतकाल' विशिष्ट देवदत्त ही वर्तमान कालविशिष्ट देवदत्त है। इस वाक्यार्थ के एक अंश में विरोध होने के कारण विरुद्धांश तत्कालविशिष्टत्व और एतत्कालविशिष्टत्व को छोड़कर अविरुद्ध भाग को ही मात्र बोधित कराता है। वैसे ही 'तत्त्वमसि' यह वाक्य या इसका वाच्यार्थ परोक्षत्वादिविशिष्ट चैतन्य तथा अपरोक्षत्वादि विशिष्ट चैतन्य के अभेदरूप मुख्यार्थ (वाच्यार्थ) के एक अंश में केवल विरोध होने से विरुद्धांश परोक्षत्वादिविशिष्टत्व और परोक्षत्वादिविशिष्टत्व को ग्रहण न करके अविरुद्ध अखण्ड चैतन्य मात्र को लक्षणा से लक्षित (बोधित) कराता है।

एक प्रश्न (शंका) उठता है कि जिस प्रकार 'नीलमुत्पलम्' इस वाक्य में समानाधिकरण्य और विशेषण—विशेष्य भाव सम्बन्ध होने पर लक्षणा की सहायता के बिना ही अभिधामात्र से अर्थ बोध हो जाता है, उसी प्रकार 'तत्त्वमसि' महावाक्य में भी सामानाधिकरण्य और विशेषण विशेष्य भाव सम्बन्ध होने पर अभिधा मात्र से ही वाक्यार्थ बोध क्यों नहीं हो जाता? इस शंका का समाधान करते हुए ग्रन्थकार का कथन है कि 'तत्त्वमसि' वाक्य में 'नीलमुत्पलम्' वाक्य के समान विशेषण—विशेष्य भाव सम्बन्ध से वाच्यार्थ संगत नहीं है; किन्तु 'तत्त्वमसि' वाक्य में निर्विशेष चैतन्य रूप अखण्डार्थ विवक्षित होने से अभिधा द्वारा अखण्डार्थ का बोध नहीं हो सकता। इसलिए उस अखण्डार्थ बोध के लिए लक्षणा का आश्रय लेना आवश्यक है और वह लक्षणा भाग लक्षणा ही हो सकती है।

3.7 स्वपरख प्रश्न/अभ्यासः—

1. वेदान्तसम्मत ईश्वर —स्वरूप विवेचन कीजिए।
2. वेदान्तसम्मत समाधि—स्वरूप वर्णन कीजिए।
3. अध्यारोप (अध्यास) अपवाद पर प्रकाश डालिए।
4. वेदान्तसम्मत अनुभव—वाक्य 'अहं ब्रह्मास्मि' की विवेचना कीजिए।
5. वेदान्तानुसार ब्रह्म की अवधारणा स्पष्ट कीजिए।
6. वेदान्त के अनुसार विवर्तवाद का स्वरूप क्या है?
7. वेदान्तसम्मत पंचीकरण प्रक्रिया का निरूपण कीजिए।
8. वेदान्त के अनुसार सूक्ष्म शरीर का विवेचन कीजिए।
9. वेदान्तसम्मत कार्यकारण सिद्धान्त पर प्रकाश डालिए।
10. वेदान्तसम्मत मोक्ष की अवधारणा पर प्रकाश डालिए।

अथवा

वेदान्त में वर्णित मोक्ष की क्या अवधारणा है? स्पष्ट कीजिए।

उत्तर— त्रिविध दुःखों तथा त्रिविध बन्धनों से आत्यन्तिक निवृत्ति को मोक्ष कहते हैं। वेदान्तमतानुसार अखण्ड ब्रह्म का ज्ञान हो पर जब अज्ञान और उसके कार्य जगत् का नाश हो जाता है, तब जगत् के अन्तर्गत रहने वाली अखण्डाकाराकारित चित्तवृत्ति भी नष्ट हो जाती है। उस क्षण केवल ब्रह्ममात्र शेष रहता है। वेदान्त में इसे ही मोक्ष कहते हैं। शंकराचार्य आत्मा का ब्रह्म के साथ तादात्म्य भाव को मोक्ष मानते हैं।

मोक्ष प्राप्ति के साधन :-मोक्ष प्राप्ति के दो साधन कहे गये हैं—

1. बहिरंग साधन :-बहिरंग साधन चार हैं।— 1. नित्यानित्य वस्तु विवेक 2. वैराग्य 3. शमादिषट्क सम्पत्ति 4. मुमुक्षुत्व। इन्हीं को साधन चतुष्टय कहते हैं, जो क्रमशः इस प्रकार हैं—(I) **नित्यानित्य वस्तु विवेक**—नित्य(ब्रह्म) तथा अनित्य (जगत्) के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान नित्यानित्य वस्तु विवेक है। (II) **वैराग्य**— इहलोक और परलोक में प्राप्त होने वाले विषय-भोगों से अत्यन्त विरक्ति वैराग्य है। (III) **शमादिषट्क सम्पत्ति**— शम-दम-उपरति-तितिक्षा-समाधान और श्रद्धा ये शमादिषट्क सम्पत्तियाँ हैं। (IV) **मुमुक्षुत्व**— मोक्ष की इच्छा से युक्त होना मुमुक्षुत्व है। ये समस्त चार साधन मोक्ष प्राप्ति के बहिरंग साधन हैं।

2. अन्तरंग साधन:-मोक्ष प्राप्ति के अन्तरंग साधन भी चार हैं— श्रवण, मनन, निदिध्यासन और समाधि। वेदान्त वाक्यों का छः प्रकार के लिंगों से अद्वितीय ब्रह्मरूप वस्तु में तात्पर्य निश्चय करना श्रवण है। श्रवण किये गये उस अद्वितीय वस्तु ब्रह्म का वेदान्तानुकूल तर्कों द्वारा सतत् चिन्तन करना मनन है। विजातीय शरीरादि प्रत्ययों से रहित होकर अद्वितीय वस्तु ब्रह्म के सजातीय प्रत्ययों का प्रवाहित करना निदिध्यासन है। समाधि दो प्रकार की होती है— क) सविकल्पक समाधि तथा ख) निर्विकल्पक समाधि।

क) सविकल्पक समाधि:- ज्ञाता, ज्ञान तथा ज्ञेय के विभाग के विलय की अपेक्षा न करके अद्वैत वस्तु के आकार से आकारित चित्तवृत्ति का अद्वितीय वस्तु ब्रह्म में स्थित हो जाना सविकल्पक समाधि है। यथा—मृदा (मिट्टी) निर्मित गज, अश्वादि का भान होने पर भी मृदा (मिट्टी) का ही भान होता है। उसी प्रकार अद्वैताकार चित्तवृत्ति में द्वैत का भान होने पर भी अद्वैत वस्तु ब्रह्म का आभास होता रहता है। इसे सम्प्रज्ञात समाधि भी कहते हैं। **ख) निर्विकल्पक समाधि :-** ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय के विकल्प के विलय हो जाने की अपेक्षा से अद्वैत वस्तु ब्रह्म में अद्वैताकार से आकारित चित्तवृत्ति का अत्यन्त एकीभाव से तद्रूप होकर स्थित हो जाना निर्विकल्पक समाधि है। उस क्षण जल के आकार से आकारित नमक की प्रतीति न होने से जल मात्र का आभास होने के सदृश अद्वितीय वस्तु ब्रह्म के आकार से आकारित चित्तवृत्ति का आभास न होकर मात्र अद्वितीय वस्तु ब्रह्म का ही आभास होता है। इसको असम्प्रज्ञात समाधि भी कहते हैं।

निर्विकल्पक समाधि के अंग:-यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा तथा समाधि—ये आठ अंग हैं। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह—ये पाँच यम हैं। शुद्धता (शौच), सन्तोष, तप, स्वाध्याय एवं ईश्वरप्रणिधान—ये पाँच नियम हैं। हस्तपादादि को विशिष्ट स्थिति में रखना पदम,

स्वस्तिकादि आसन हैं। रेचक, पूरक, कुम्भक लक्षण विशिष्ट प्राणनिग्रह उपाय प्राणायाम है। इन्द्रियों को स्व-स्वविषयों से निवृत्त कर लेना प्रत्याहार है। अद्वितीय वस्तु ब्रह्म में अन्तःकरण को लगा देना धारणा है। उस अद्वितीय वस्तु (ब्रह्म) में अन्तःकरण की वृत्तियों का रह-रहकर प्रवाहित करना ध्यान है। सविकल्पक स्थिति को समाधि कहते हैं। अष्टांग समाधि का अभ्यास करते समय दो प्रकार के विघ्न आते हैं— 1. बाह्य तथा 2. आभ्यान्तर। अतिवृष्टि तथा भूकम्पादि बाह्य विघ्न हैं। लय, विक्षेप, कषाय तथा रसास्वादन आभ्यान्तर विघ्न है। अखण्ड वस्तु (ब्रह्म) का आश्रय न लेने के कारण चित्तवृत्ति का सो जाना (निद्रा) ही लय है। अखण्ड वस्तु ब्रह्म का आश्रय न लेकर चित्तवृत्ति का अन्य वस्तु का आश्रय लेना विक्षेप है। लय और विक्षेप का प्रभाव होने पर रागादि वासनाओं के कारण चित्तवृत्ति के स्तब्ध हो जाने से अखण्ड वस्तु ब्रह्म का अवलम्बन न करना कषाय है। अखण्ड वस्तु (ब्रह्म) का अवलम्बन न करने पर भी चित्तवृत्ति का सविकल्पक समाधि के आनन्द का आस्वादन करना रसास्वाद है।

इन चार प्रकार के विघ्नों से रहित जब निर्वात (वायु रहित) स्थान में रखे हुए दीपक की भाँति अचल अखण्ड चैतन्य मात्र में स्थित होना ही निर्विकल्पक समाधि है।

जीवन्मुक्त :- यथा—कुम्हार चाक को चलाना बन्द कर लेता है, फिर भी चाक कुछ समय तक चलता रहता है, उसी प्रकार ज्ञान के द्वारा अज्ञान को दूर कर देने पर भी शरीर कुछ काल तक स्थिर रहता है, जिससे भोग के द्वारा प्रारब्ध कर्म समाप्त हो जायें, अद्वैत वेदान्तानुसार यही जीवन्मुक्ति की स्थिति है।

‘तत्त्वमसि’ महावाक्य द्वारा जीव और ब्रह्म की एकता का ज्ञान प्राप्त हो जाने के पश्चात् जब अखण्ड ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाता है, उस क्षण अज्ञान और उसके कार्य स्थूल तथा सूक्ष्म प्रपञ्च संचित कर्म, संशय, व विपर्यय ज्ञान का नाश हो जाता है तब ब्रह्मवेत्ता पुरुष जीवित रहते हुए ही समस्त सांसारिक बन्धनों से मुक्त हो जाता है। इस तरह से मुक्त ब्रह्मनिष्ठ पुरुष को जीवन्मुक्त कहा जाता है।

विदेहमुक्त :- श्रुतियों में कहा गया है कि जीवन्मुक्त पुरुष जीवित रहते हुए भी दृश्यमान जगत् के राग-द्वेषादि बन्धनों से मुक्त हो जाता है तथा शरीरपात हो जाने पर शरीर के बन्धन से भी छूट जाता है। वही विदेहमुक्त है। विदेहमुक्त पुरुष जन्म-मरण रूप जगत् बन्धनों से आत्यन्तिक निवृत्ति प्राप्त कर लेता है। फलतः उसका पुनर्जन्म नहीं होता।

बहुविकल्पीय प्रश्न:-

1. वेदान्त के अनुसार अज्ञान का स्वरूप है—

क) निर्वचनीय ख) अनिर्वचनीय ग) असत् घ) परमार्थ सत्

उत्तर—ख

2. वेदान्त के अनुसार अज्ञान किसमें बाधक है—

क) ब्रह्म ज्ञान ख) आत्म-ज्ञान ग) मोक्ष घ) इन सभी में

उत्तर—घ

3. जीवन्मुक्त फल भोगता है—

क) संचित कर्म का ख) प्रारब्ध कर्म का ग) अज्ञान का घ) क्रियमाण कर्म का

उत्तर—ख

4. वेदान्त के अनुसार प्रमाण हैं—

क) छः ख) आठ ग) चार घ) तीन

उत्तर—क

5. वेदान्त दर्शन का दूसरा नाम है—

क) उत्तर मीमांसा ख) न्याय वैशेषिक ग) अद्वैत वेदान्त घ) प्रत्यभिज्ञा दर्शन

उत्तर—क)

6. वेदान्त के अनुसार प्राणियों के स्थूल व सूक्ष्म शरीर की उत्पत्ति किससे होती है—

क) तत्त्वों के विकास से ख) तत्त्वों के क्रमिक विकास से

ग) पंच तत्त्व के कार्य के विकास से घ) पंच तत्त्व से।

उत्तर —ग

7. वेदान्त दर्शन में किस प्रकार की मुक्ति का वर्णन है—

क) जीवन्मुक्ति ख) संयुक्त—मुक्ति ग) विदेह मुक्त घ) जीवन्मुक्ति विदेह मुक्ति

उत्तर —घ

8. ब्रह्म का निर्गुण निराकार रूप उपाधिभूत होने पर कहलाता है—

क) सगुण—साकार ख) साकार ग) सगुण घ) सक्रिय

उत्तर—क

9. वेदान्त दर्शन आधारित है—

क) उपनिषदों पर ख) वेदों पर ग) ब्राह्मण ग्रन्थों पर घ) पुराणों पर

उत्तर—क

10. अज्ञान (माया) से संयुक्त ब्रह्म कहलाता है—

क) जगत् ख) आत्मा ग) ईश्वर घ) मुक्त

उत्तर —ग

11. शंकराचार्य के अनुसार जगत् है—

क) ब्रह्म का विवर्त ख) जीव का विवर्त ग) माया का विवर्त घ) प्रकृति का विवर्त

उत्तर—क

स्वयं अध्ययन सामग्री

पाठ्यक्रम	—	एम0ए0
वर्ष	—	पूर्वाद्ध
विषय	—	संस्कृत
प्रश्न पत्र	—	चतुर्थ
शीर्षक	—	दर्शन
इकाई	—	(4) दर्शनों की तुलनात्मक समीक्षा
लेखिका	—	डॉ0 सुधा गुप्ता
सम्पादक	—	प्रो0 अशोक कुमार कालिया

मध्यप्रदेश भोज (मुक्त) विश्वविद्यालय, भोपाल

एम0ए0 (पूर्वार्द्ध) संस्कृत

चतुर्थ प्रश्नपत्र—दर्शन

इकाई (4) दर्शनों की तुलनात्मक समीक्षा

(प्रमाण, सृष्टिप्रक्रिया, गुण विवेचन, ब्रह्म एवं जीव का स्वरूप, आत्मा का स्वरूप, कारण, मोक्ष की धारणा आदि)

इकाई की रूपरेखा :-

- (4.0) उद्देश्य
- (4.1) प्रस्तावना
- (4.2) इकाई के शीर्षक का अर्थ
- (4.3) पाठ्यक्रम
- (4.4) सारांश
- (4.5) संदर्भित पुस्तकें
- (4.6) बोधप्रश्न
- (4.7) स्वपरख प्रश्न/अभ्यास

(4.0) उद्देश्य :-

दर्शन का एकमात्र उद्देश्य भारतीय आस्तिक षड्दर्शनों (सांख्य-योग, न्याय-वैशेषिक, पूर्वमीमांसा-उत्तरमीमांसा अर्थात् वेदान्त) में दुःख सामान्य की निवृत्ति तथा सुखसामान्य की प्राप्ति है। यह इकाई, जिसके अध्ययन से आप इस योग्य हो सकेंगे कि—

- प्रत्येक दर्शन के मान्य प्रमाणों की संख्या तथा उनके लक्षणों का पूर्ण ज्ञान हो सके।
- सृष्टि-प्रक्रिया विषयक प्रत्येक दर्शन की मान्यता से अवगत हो सकें।
- गुणत्रय का स्वरूप एवं लक्षण और उनके कार्य का बोध हो सके।
- ब्रह्म, जीव और आत्मा जैसे दुरुह विषयों को सभी दर्शनों की दृष्टि से परख सकें।
- कारण, बन्ध एवं मोक्ष की अवधारणा का सम्यक् बोध हो सके।

(4.1) प्रस्तावना :-

दर्शन ज्ञान की वह अबाध सरिता है, जिसका प्रवाह सनातन है। यह एक ऐसा बिन्दु है, जहाँ देश, काल और परिस्थितियों की सीमाएँ अर्थहीन हो जाती हैं। दर्शन जीवन के प्रति एक ऐसा दृष्टिकोण है, जिससे अदृष्ट (अप्रत्यक्ष) विषयों का दर्शन सम्भव होने लगता है और इस अर्थ में संस्कृत व्युत्पत्त्यानुसार दर्शन देखने का साधन है। समस्त भारतीय दर्शनशास्त्रों की योनि उपनिषद् कहे जाते हैं, जिनमें हमारे प्राचीन ऋषियों मुनियों का स्वतन्त्र एवं मौलिक चिन्तन समाहित है। उपनिषद् हमें वह दृष्टि प्रदान करते हैं, जिससे दर्शनों की साधनमूलकता सिद्ध होती है। उपनिषदों के प्रमुख प्रतिपाद्य

ब्रह्म, ईश्वर, आत्मा, जीवन, जगत्, बन्ध और मोक्ष आदि कतिपय ऐसे विषय हैं, जो कुछ-कुछ अन्तर के साथ प्रायः सभी दर्शनों में प्रतिपादित हैं। उपनिषदीय चिन्तन ही सभी अस्तिक दर्शनों का मूलाधार है।

(4.2) इकाई के शीर्षक का अर्थ :-

‘दर्शनों की तुलनात्मक समीक्षा—इकाई के इस शीर्षक से ही बहुत कुछ इसका अर्थ स्पष्ट हो जाता है कि विभिन्न दर्शनों में वर्णित अज्ञान की निवृत्ति और परमानन्द की प्राप्ति के उपायों में कितनी समानता व कितना वैषम्य है। वास्तव में उनमें वैषम्य है भी या एक ही सत्य (वस्तु) का प्रतिपादन करने की सबकी पद्धति, शैली और शब्द ही भिन्न हैं। वस्तुतः सभी दर्शन एक ही सत्ता की भिन्न-भिन्न नामों से भिन्न-भिन्न रूपों में सिद्धि करते हैं। कोई (वेदान्ती) श्रुति, युक्ति और अनुभव को अपना आधार बनाकर अपनी बात की पुष्टि करता है तो कोई (नैयायिक) प्रामाणिक तर्कों से अपनी बात को सिद्ध करता है। कोई (योग) आचार (आचरण की शुद्धता) संहिता प्रस्तुत करता है तो कोई (सांख्य) विकासवादी विचारधारा पेश करता है। यह इकाई सभी के मतों की तुलना सम्यक् दृष्टि से प्रस्तुत करती है।

(4.3) पाठ्यक्रम :-

प्रमाण, सृष्टि—प्रक्रिया, गुण विवेचन, ब्रह्म एवं जीव का स्वरूप, आत्मा का स्वरूप, कारण एवं मोक्ष की धारणा आदि कुछ ऐसे विषय हैं, जिनका प्रतिपादन विभिन्न दर्शनों में किञ्चित-किञ्चित भिन्नता के साथ किया गया है। यहाँ क्रमशः इन्हीं का विवरण और उनकी तुलनात्मक समीक्षा की जा रही है।

प्रमाण— प्रमाणों की संख्या अनेक है। दर्शनों में इनकी संख्या को लेकर परस्पर काफी भिन्नता दिखलाई पड़ती है। **यथा—**

‘चार्वकास्तावदेकं द्वितयमपि पुनर्बौद्धवैशेषिकौ द्वौ,
भासर्वज्ञश्च सांख्यस्त्रितयमुदयनाद्याश्चतुष्कं वदन्ति ।
प्राहुः प्राभाकराः पञ्चकमपि च वयं तेऽपि वेदान्तविज्ञाः,
षट्कं पौराणिकास्त्वष्टकमभिदधिरे संभवैतिह्य योगात् ॥

—मानमेयोदय

सभी दार्शनिक सम्प्रदायों ने अपने-अपने प्रमेयों (विषय-वस्तु) की सिद्धि के लिए प्रतिष्ठित प्रमाणों की संख्या भिन्न-भिन्न स्वीकार की है। दार्शनिक भाषा में प्रमाण प्रमा का साधन है, जिससे कथन की सत्यता प्रमाणित होती है। प्रमा यथार्थ ज्ञान को कहते हैं और इसकी सिद्धि के प्रमुख तीन घटक हैं— प्रमाता, प्रमेय और प्रमाण। जो ज्ञान प्राप्त करता है, वह प्रमाता है। जो विषय ज्ञात किया जाता है, वह प्रमेय है और प्रमेय की सिद्धि प्रमाणों द्वारा सम्पन्न होती है।

पूर्व प्रथम, द्वितीय और तृतीय इकाइयों के अन्तर्गत तत्तत् दर्शनों को अभीष्ट प्रमाणों की संख्या, लक्षण आदि का परिचय दिया जा चुका है। यहाँ इस इकाई के अन्तर्गत उनकी प्रश्नोत्तर रूप में तुलनात्मक समीक्षा की जा रही है।

(4.3.1) प्रश्न— सांख्य, न्याय तथा वेदान्त में मान्य प्रमाणों की तुलनात्मक समीक्षा कीजिए।

अथवा

सांख्य, न्याय तथा वेदान्त के अनुसार प्रमाणों का तुलनात्मक निरूपण कीजिए।

उत्तर— सांख्य, न्याय तथा वेदान्त सम्मत प्रमाण विवेचन क्रमशः इस प्रकार है—

सांख्यसम्मत प्रमाण— सांख्य दर्शन तीन प्रमाण मानता है— (1) दृष्ट (प्रत्यक्ष) (2) अनुमान एवं (3) आप्तवचन, जिसे आगम अथवा शब्द प्रमाण भी कहते हैं। इन्हीं तीन प्रमाणों में सांख्य ने अन्य दर्शनों द्वारा मान्य अन्य उपमान, अर्थापत्ति, अभाव, सम्भव एवं ऐतिह्यसंज्ञक, प्रमाण अन्तर्भूत माने हैं। यथा—उपमान का अन्तर्भाव आगम में, अर्थापत्ति का अनुमान में, अभाव का प्रत्यक्ष में, संभव का अनुमान में और ऐतिह्य का शब्द प्रमाण में अन्तर्भाव होता है। सांख्य प्रतिपादित प्रमाण इस प्रकार हैं—

दृष्ट (प्रत्यक्ष) प्रमाण — सांख्य के अनुसार प्रत्यक्ष का लक्षण है— **‘प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्टम्’**— प्रकृत लक्षण में ‘विषय’ का अर्थ ‘ज्ञान का विषय’ है। ज्ञान के विषय दो प्रकार के होते हैं—एक तो ‘घट’, ‘पट’ आदि बाह्य विषय, जिनके प्रत्यक्ष में बाह्य इन्द्रिय के साक्षात् व्यापार की भी अपेक्षा होती है और दूसरे सुख—दुःख आदि अन्तर विषय होते हैं, जिनका प्रत्यक्ष मन के द्वारा होता है, बाह्य इन्द्रियों के द्वारा नहीं। ‘प्रति—विषय’ शब्द का अर्थ ‘विषय से सन्निकृष्ट इन्द्रिय’ होता है। ‘अध्यवसाय’ शब्द से तात्पर्य ‘संशय एवं विपर्यय से भिन्न निश्चयात्मक ज्ञान’ से है। अतः इन्द्रिय का विषय से सन्निकर्ष होने पर जो अध्यवसायात्मक (निश्चयात्मक) ज्ञान होता है, उसे प्रत्यक्ष कहते हैं।

2. अनुमान प्रमाण—‘तल्लिंगलिङ्गि पूर्वकम्’ अर्थात् जिस ज्ञान के पूर्व लिंग (व्याप्य) एवं लिंगी (व्यापक) का सम्बन्ध ज्ञात हुआ रहा रहता है, उसे अनुमान प्रमाण कहते हैं। धूम व्यापक है और अग्नि व्याप्य। ‘जहाँ—जहाँ धूम होगा वहाँ—वहाँ अग्नि होगी’, यही लिंग एवं लिंगी का सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध को ‘व्याप्ति’ कहा जाता है। यह पूर्व ज्ञात होने पर कि ‘जहाँ—जहाँ धूम होगा वहाँ—वहाँ अग्नि होगी, जो धूम को देखकर अग्नि का ज्ञान होता है, वह अनुमान प्रमाण है। न्यायदर्शन की भाँति सांख्य भी अनुमान के तीन प्रभेद मानता है। ये तीन प्रभेद हैं— (1) पूर्ववत्, (2) शेषवत् एवं (3) सामान्यतोदृष्ट। पूर्ववत् एवं सामान्यतोदृष्ट इन दोनों अनुमान—प्रभेदों को अन्वयी होने के कारण ‘वीत’ और शेषवत् को व्यतिरेकी होने के कारण ‘अवीत’ कहा गया है।

3. शब्द प्रमाण— सांख्यानुसार शब्द प्रमाण का लक्षण **‘आप्तश्रुतिराप्तवचनम्’** है। यहाँ **‘आप्तवचन’** लक्ष्य एवं **‘आप्तश्रुति’** लक्षण है। ‘आप्त’ का अर्थ ‘यथार्थ विवेचन करने वाला व्यक्ति या शास्त्र’ और ‘श्रुति’ का अर्थ लक्षण से ‘श्रुतिजन्य अर्थबोध’ अर्थात् सुनने से उत्पन्न अर्थ का ज्ञान होता है। इस प्रकार आप्तश्रुति का अर्थ हुआ ‘यथार्थ विवेचन’ करने वाले किसी व्यक्ति या शास्त्र के कथन से उत्पन्न अर्थज्ञान और इसी को शब्द प्रमाण कहते हैं। आप्तवचन में संशय, भ्रम अथवा प्रमाद के लिए कोई स्थान नहीं होता है। वस्तुतः सांख्य शब्द प्रमाण के अन्तर्गत वेद वाक्यों को ही ग्रहण करता है।

संक्षेप में सांख्यसम्मत प्रमाणों का यही विवरण है।

न्यायसम्मत प्रमाण :- न्याय दर्शन को निम्नलिखित चार प्रमाण मान्य हैं – प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द। इन चारों प्रमाणों का संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है :-

1. प्रत्यक्ष प्रमाण :- यथार्थ अनुभव को प्रमा कहते हैं। प्रमा का साधन प्रमाण होता है और साक्षात्कारी (प्रत्यक्ष) प्रमा का कारण प्रत्यक्ष कहलाता है— **‘साक्षात्कारिप्रमाकरणं प्रत्यक्षम्।’** घटादि के दर्शन से नेत्र संयोग होने के पश्चात् ‘यह अमुक वस्तु है’ इस प्रकार का जो प्रमा रूप ज्ञान होता है। उसे प्रत्यक्ष-प्रमा कहते हैं। इस प्रत्यक्ष के दो भेद होते हैं—सविकल्पक और निर्विकल्पक। जिस प्रत्यक्ष में विशेषण अथवा नाम, रूप, जाति आदि का बोध होता है, वह सविकल्पक कहा जाता है, जैसे—चक्षुरिन्द्रिय से घटत्वावच्छिन्न घट का बोध होना। निर्विकल्पक ज्ञान में केवल वस्तु मात्र का ज्ञान होता है, उसके नाम, जाति आदि का ज्ञान नहीं होता।

न्याय दर्शन के अनुसार इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष (मिलन) के छः प्रकार बताये गये हैं—संयोग, संयुक्त समवाय, संयुक्तसमवेत समवाय, समवाय, समवेतसमवाय और विशेषण-विशेष्यभाव। इनमें क्रमशः घट, तद्गत रूप, रूप की जाति (रूपत्व), शब्द, शब्दत्व तथा अभाव और समवाय गृहीत होते हैं। वेदान्त दर्शन समवाय सम्बन्ध को नहीं मानता। उसके अनुसार वस्तु और तद्गत रूप बिल्कुल एक हैं, उनमें तादात्म्य रहता है। वेदान्त दर्शन के अनुसार सन्निकर्ष केवल पाँच हैं—संयोग, संयुक्त तादात्म्य, संयुक्तावच्छिन्न, तादात्म्य, तादात्म्य तथा अभिन्न तादात्म्य। अभाव को स्वीकार करने के लिए वेदान्त न्यायदर्शन से भिन्न अनुपलब्धि प्रमाण मानता है तथा समवाय उसके अनुसार कोई वस्तु है ही नहीं। अतः इन दोनों के ग्रहण के लिए ‘विशेषण-विशेष्यभाव’ सन्निकर्ष मानने की वेदान्त दर्शन को आवश्यकता नहीं रहती।

यह प्रत्यक्ष दो प्रकार का होता है— एक इन्द्रियों से जन्य और दूसरा इन्द्रियों से अजन्य। ज्ञान की इन्द्रियाँ पाँच हैं। मन को वेदान्त दर्शन ने इन्द्रिय नहीं माना, अतः सुख-दुःख आदि का प्रत्यक्ष इन्द्रियाजन्य हैं। पाँचों इन्द्रियों में घ्राण, जिह्वा और त्वचा अपने-अपने स्थल पर रहकर ही अपने विषय का ज्ञान करती हैं, किन्तु कर्ण और चक्षु विषय के स्थान पर पहुँच जाते हैं और उससे (वस्तु या शब्द से) संयोग करके विषय को ग्रहण करने में सहायक बनते हैं।

(2) अनुमान प्रमाण— अनुमिति, उपमिति और शब्द ज्ञान न्याय दर्शन के अनुसार परोक्ष ज्ञान हैं। इनमें अनुमिति सर्वाधिक महत्वपूर्ण है— **‘अनु पश्चात् मानं ज्ञानम् अनुमानम्।’** अनुमान व्याप्ति-ज्ञान, पक्षधर्मता ज्ञान, व्याप्ति-स्मरण और परामर्श के पश्चात् उत्पन्न होने वाला परोक्ष-ज्ञान है—**‘लिंगःपरामर्शोऽनुमानम्।’** संक्षेप में, हेतु (लिंग) को किसी स्थान-विशेष में देखकर उसके व्यापक साध्य (लिंगी) का परोक्ष ज्ञान अनुमान या अनुमिति है। यथा—पर्वत पर धूम देखकर उसके व्यापक साध्य—अग्नि का परोक्ष ज्ञान अनुमान है। इस अनुमान के पाँच अवयव हैं —

हेतु— अनुमान में हेतु महत्वपूर्ण है। व्याप्ति के कारण किसी स्थान-विशेष में साध्य की सत्ता प्रमाणित करने वाले साधन को हेतु कहते हैं। यह लीन (परोक्ष) का ज्ञान कराने से लिंग कहा जाता है— **लीनम् अर्थं गमयति इति लिंगम्।**

साध्य— वह परोक्ष तत्त्व है, जिसका अनुमान करना है। इसे व्यापक एवं अनुमेय भी कहा जाता है। उपर्युक्त उदाहरण में अग्नि साध्य है।

पक्ष— वह स्थान जहाँ साध्य की सत्ता प्रमाणित की जाती है, वह पक्ष कहा जाता है।

सपक्ष— जिस स्थान में साध्य का होना पहले से निश्चित हो, उसे सपक्ष कहते हैं। व्युत्पत्ति के अनुसार इसे पक्ष के समान होना चाहिए। दोनों ही साध्य से सम्पन्न होते हैं। दोनों में यह अन्तर है कि सपक्ष में अनुमान से पहले ही साध्य की सत्ता निश्चित रहती है, जबकि पक्ष में अनुमान के बाद ही साध्य की सत्ता का ज्ञान होता है। अनुमान से पहले पक्ष में साध्य की सत्ता में सन्देह रहता है।

विपक्ष— वह स्थान विपक्ष कहलाता है, जहाँ साध्य का अभाव सदा निश्चित हो। पर्वत पर धूम से वह्नि के अनुमान में धूम हेतु तथा वह्नि साध्य है। पर्वत पक्ष, रसोई घर आदि सपक्ष और नदी, समुद्र आदि विपक्ष हैं।

अनुमान के दो अंग होते हैं—व्याप्ति और पक्षधर्मता। व्याप्ति के कारण हेतु के साथ सामान्य रूप में साध्य की सत्ता प्रमाणित रहती है और पक्षधर्मता के प्रभाव से साध्य का पक्ष के साथ सम्बन्ध सिद्ध हो जाता है। पक्षधर्मता के बाद व्याप्ति की स्मृति होती है। पक्षधर्मता ज्ञान और व्याप्ति—ज्ञान के सम्मिलित रूप को परामर्श कहते हैं।

अनुमान प्रमाण में सर्वप्रथम अनुभवात्मक व्याप्ति—ज्ञान होता है। उसके पश्चात् पक्षधर्मता ज्ञान तथा तत्पश्चात् व्याप्ति ज्ञान से उत्पन्न संस्कार का उद्बोधन रहता है। इसके पश्चात् व्याप्ति का स्मरण होता है। इसके उपरान्त परामर्श और परामर्श के द्वारा अनुमिति होती है। यह अनुमिति दो प्रकार की होती है— स्वकीय तथा परकीय। अनुमान प्रमाण भी स्वार्थ और परार्थ भेद से दो प्रकार का होता है। अपने समझने से दूसरे को समझाने में अधिक असुविधा होने से परार्थानुमिति में 'पंचावयव वाक्य' का प्रयोग होता है। अनुमान के ये पाँच अवयव—प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय तथा निगमन हैं।

प्रतिज्ञा—पर्वतो अग्निमान् हेतु—धूमवत्त्वात्। **उदाहरण**—यत्र—यत्र धूमः तत्र—तत्र अग्निः। यथा—महानसम्। **उपनय**—तथा चायम्। **निगमन**—तस्मात्तथा। इसलिए यह पर्वत भी महानस की भाँति अग्निमान् है।

इसके अतिरिक्त अन्य दृष्टि से अनुमिति के तीन रूप हैं—(अ) पूर्ववत्, (ब) शेषवत् और (स) सामान्यतोदृष्ट।

(अ) कारण से कार्य की अनुमिति —सघन श्याम मेघ को देखकर वर्षा की अनुमिति पूर्ववत् है।

(ब) युक्तिपूर्वक प्रतिषेध के माध्यम से वास्तविकता की अनुमिति शेषवत् है। यथा एक चुल्लू समुद्र के जल से शेष समुद्र के खारेपन का अनुमान।

(स) सामान्यतोदृष्ट अनुमिति सादृश्यमूलक होती है। यथा—दस घट समान देखकर ग्यारहवें अदृष्ट घट का भी वैसा ही अर्थात् समान होने का अनुमान।

व्याप्ति के स्वरूप पर आश्रित दृष्टि के अनुसार अनुमिति तीन प्रकार की होती है—केवलान्वयी, केवलव्यतिरेकी तथा अन्वयव्यतिरेकी।

(3) **उपमान प्रमाण** :- किसी ज्ञात वस्तु के सादृश्य से किसी अज्ञात वस्तु का ज्ञान प्राप्त करना ही उपमान प्रमाण है— 'अतिदेशवाक्यार्थस्मरणसहकृतं गोसादृश्यविशिष्टपिण्डज्ञानमुपमानम्'— अर्थात् गवय को न जानने वाला किन्तु गौ को जानने वाला कोई नागरिक, किसी वन में रहने वाले पुरुष से यह वाक्य सुनकर कि जैसी गौ होती है, वैसा ही गवय होता है। वन में जाकर वाक्यार्थ को स्मरण करता हुआ गौ के सदृश किसी विशेष शरीरधारी पशु को देखता है, तब वह वाक्यार्थ के स्मरण की सहायता से गौ के सदृश किसी पिण्ड-विशेष का जो ज्ञान प्राप्त करता है, वह उपमिति (फल) का कारण होता है और उसे उपमान (कारण) प्रमाण कहते हैं।

(4) **शब्द अथवा आगम प्रमाण** :- आप्त व्यक्ति का उपदेश ही 'शब्द प्रमाण' है —'आप्तवाक्यं शब्दः'। यथार्थ का उपदेश करने वाला पुरुष आप्त कहलाता है और उसका वाक्य शब्द प्रमाण। वाक्य आकांक्षा, योग्यता और आसक्ति से युक्त पदों के समूह को कहते हैं। वेदान्त के अनुसार आकांक्षा, योग्यता और आसक्ति अर्थात् सन्निधि के कारण सम्पूर्ण वाक्य से एक विशेष तात्पर्य प्रस्फुटित होता है, जो पदार्थ से भिन्न होता है। तात्पर्यार्थ और पदार्थ का बोध्य-बोधक-भाव-ज्ञान शाब्दी प्रमाण है। इस सम्बन्ध का बोध कराने वाला वाक्यज्ञान है। इसी को शब्द अथवा आगम प्रमाण कहा जाता है।

शब्द प्रमाण दो प्रकार का होता है— पौरुषेय तथा अपौरुषेय। पौरुषेय वाक्य प्रमाणित तभी माना जा सकता है, जब वह किसी आप्त अर्थात् विश्वसनीय पुरुष के द्वारा प्रयोग किया गया हो। वेदवाक्य अपौरुषेय हैं। यह दो प्रकार का है—सिद्धान्त और विधायक। विषय की सत्ता सूचित करने वाला वेदवाक्य सिद्धान्त और विधि या आज्ञा की सूचना देने वाला विधायक कहलाता है। सांख्य दर्शन के अनुसार आप्त-पुरुष के वचन को शब्द प्रमाण कहते हैं। आप्त-पुरुष उसे कहते हैं, जो यथार्थ का ज्ञाता एवं वक्ता हो। शब्द दो प्रकार का होता है। लौकिक और वैदिक। मानव द्वारा व्यवहार किया गया शब्द लौकिक कहा जाता है। इन्हें सांख्य दर्शन प्रामाणिक नहीं मानता। यह वैदिक शब्द को ही प्रामाणिक मानता है, क्योंकि वेद अपौरुषेय हैं, अतः स्वतः प्रमाण हैं। वेदमूलक होने के कारण स्मृति, इतिहास, पुराण आदि के वाक्य भी प्रामाणिक स्वीकार किये जाते हैं।

वेदान्तसम्मत प्रमाण — वेदान्त-स्वीकृत प्रमाण छः हैं— प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, आगम, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि (अभाव)। संक्षेप में इनका विवेचन कुछ इस प्रकार है—

1. प्रत्यक्ष प्रमाण :- वेदान्तानुसार प्रत्यक्ष प्रमाण का कारण प्रत्यक्ष प्रमाण है। वस्तु से इन्द्रिय सन्निकर्ष का परिणाम प्रत्यक्ष प्रमाण है। यह प्रत्यक्ष वृत्त्याश्रित (चित्त वृत्ति पर आधारित) होता है। प्रमाण की वृत्ति जिस वस्तु विषयक आकार को धारण करती है। प्रमाता को तद्वस्तु विषयक ज्ञान का प्रत्यक्ष होता है। वेदान्त में इन्द्रिय सन्निकर्ष के आधार पर प्रत्यक्ष के दो भेद किये गये हैं। (1) इन्द्रियजन्य — पाँच ज्ञानेन्द्रियों द्वारा वस्तु के साथ सन्निकर्ष दोनों से उत्पन्न ज्ञान इन्द्रिय जन्य प्रत्यक्ष है। यथा—घट—पटादि जड़ पदार्थों का ज्ञान। (2) इन्द्रियाजन्य—इस कोटि में सुख दुःखादि का प्रत्यक्ष माना गया है। सुख—दुःख घटपटादि के समान बाह्य नहीं अपितु अन्तःकरण के धर्म हैं। वेदान्त चूँकि मन को इन्द्रिय नहीं मानता।

अतः सुख दुःखादि का प्रत्यक्ष इन्द्रिय अजन्य है। इसके अतिरिक्त निर्विकल्पक तथा सविकल्पक रूप से भी वेदान्त में प्रत्यक्ष द्विविध कहा गया है।

2. अनुमान प्रमाण :- अनुमिति प्रमा का कारण 'अनुमान' है और इसका हेतु व्याप्ति ज्ञान है। निरन्तर साहचर्य दर्शन तथा किसी भी समय व्यभिचार दर्शन न होने से व्याप्ति का निश्चय होता है। यथा—निरन्तर धूम और अग्नि के साहचर्य से 'यत्र—यत्र धूमः तत्र—तत्र अग्निः'—इस व्याप्ति का ग्रहण होता है। इसी व्याप्ति के आधार पर पर्वत में धूम को देखकर अग्नि होने का अनुमान होता है। 'यह पर्वत अग्नि वाला है।

वेदान्त केवलान्वयी व्याप्ति ही स्वीकार करता है। इसके अतिरिक्त वेदान्त में न्याय के पंचावयव वाक्यों के स्थान पर केवल तीन अवयव ही मान्य है। यथा—पर्वत अग्निमान् है (प्रतिज्ञा) क्योंकि धूमवान है (हेतु)। जहाँ—जहाँ धूम होता है, वहाँ—वहाँ अग्नि होती है, जैसे—पाकशाला (उदाहरण)। वेदान्ती इन्हीं तीन अवयव वाक्यों से स्वार्थानुमान के साथ—साथ परार्थानुमान का भी ज्ञान कराता है।

3. उपमान प्रमाण :- सादृश्य प्रमा का कारण उपमान वेदान्त की दृष्टि से एक अलग स्वतन्त्र प्रमाण है। उपमान का हेतु सादृश्य है। पूर्व दृष्ट किसी वस्तु के सादृश्य से अन्य वस्तु का ज्ञान—प्राप्त करने की प्रक्रिया उपमान है। यथा—गोसदृश गवय होता है, ऐसा ज्ञान प्राप्त व्यक्ति अन्यत्र गवय का दर्शन होने पर गोसाधर्म्य रूप पूर्वज्ञान के उद्बोधन से यह प्राणी गवय है—ऐसा निर्धारण करता है तथा पुनः प्रत्यक्षीकृत 'गवय' के साधर्म्य से 'पूर्वदृष्ट गो' ऐसी ही थी—ऐसा यथार्थ ज्ञान 'उपमिति' प्राप्त करता है। यह ज्ञान न प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा सम्भव है और न ही व्याप्ति सम्बन्ध का अभाव होने से अनुमान प्रमाण द्वारा सम्भव है। अतः उपमान अलग एक स्वतन्त्र प्रमाण है।

4. आगम प्रमाण :- इसे शब्द प्रमाण भी कहते हैं और इसका वेदान्त में अत्यधिक महत्त्व है। यह ज्ञान के स्वतन्त्र साधनरूप में स्वीकृत है। ब्रह्म ज्ञान में एकमात्र समर्थ प्रमाण आगम ही है। वेदान्त के अनुसार वह वाक्य प्रमाण है, जिस वाक्य के तात्पर्य का विषय होने वाला संसर्ग अन्य प्रमाणों से बाधित नहीं होता है। इस वाक्य के चार सहायक होते हैं— आकांक्षा योग्यता, सन्निधि (आसक्ति) तथा तात्पर्य ज्ञान। पौरुषेय (लौकिक) तथा अपौरुषेय (वैदिक) भेद से ये वाक्य दो प्रकार के हैं। वेद एवं श्रुतिवचन अपौरुषेय शब्द प्रमाण की कोटि में आते हैं। वेदान्त में इन वाक्यों को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। वेदान्त ने अपने एकमात्र प्रमेय 'ब्रह्म' की सिद्धि इन्हीं अपौरुषेय शब्द प्रमाणों से की है।

5. अर्थापत्ति प्रमाण :- उपपाद्य (कार्य) के ज्ञान से उपपादक (कारण) की कल्पना ही अर्थापत्ति है। यथा—दिन में भोजन न करने वाले व्यक्ति के शरीर का मोटापन रात्रिभोजन के बिना सम्भव नहीं है। यहाँ उपपाद्य शरीर के मोटेपन की कल्पना उपपादक—रात्रि भोजन द्वारा की गयी है। यही अन्य कारण की कल्पना करना अर्थापत्ति है, जोकि प्रत्यक्ष में कार्य तथा कारण में दिखाई देने वाले विरोध का परिहार करते हुए की जाती है। न्याय सम्मत केवलव्यतिरेकी अनुमान का अन्तर्भाव वेदान्ती अर्थापत्ति में करते हैं। यह अर्थापत्ति दृष्टार्थापत्ति तथा श्रुतार्थापत्ति के भेद से दो प्रकार की होती है। दृष्टार्थापत्ति का विषय

दृष्ट अर्थात् प्रत्यक्ष आधारित होता है, जबकि श्रुतार्थापत्ति का विषय सुने हुए वाक्य पर आधारित होता है।

6. अनुपलब्धि प्रमाणः— वेदान्त में अभाव की सिद्धि अनुपलब्धि प्रमाण द्वारा होती है। पूर्वोक्त पाँचों प्रमाण भाव पदार्थों का ज्ञान कराते हैं। वेदान्ती पदार्थाभाव (भूतल में घटाभाव रूप) ज्ञान में अनुपलब्धि को ही एकमात्र हेतु नहीं मानते, अपितु योग्यानुपलब्धि को मानते हैं। योग्यानुपलब्धि प्रत्यक्ष योग्य वस्तु का प्रत्यक्ष न होना है। यह अभाव चार प्रकार का है—प्राग्भाव, प्रध्वंसाभाव, अत्यन्ताभाव और अन्योन्याभाव।

तुलनात्मक समीक्षा

मोक्ष का साधन ज्ञान है और ज्ञान का साधन प्रमाण हैं—यह बात सभी दर्शनों ने स्वीकार की है। मुख्य अन्तर प्रमाणों की संख्या को लेकर दर्शनों में दिखलाई पड़ता है। सांख्य तीन प्रमाण मानता है, तो न्याय चार प्रमाणों को स्वीकार करता है और वहीं वेदान्त को छः प्रमाण मान्य हैं।

सांख्य—न्याय और वेदान्तगत प्रमाणों के लक्षण और प्रक्रिया में भी पर्याप्त अन्तर प्राप्त होता है। सांख्य और न्याय जहाँ प्रत्यक्ष के निर्विकल्पक और सविकल्पक भेदों को स्वीकार करता हैं, वहीं वेदान्ती इन्द्रिय जन्य और इन्द्रिय अजन्य भेद स्वीकार करते हैं। वेदान्त वर्णित प्रत्यक्ष की प्रक्रिया सांख्य और न्याय की अपेक्षा अधिक विलिप्त है।

अनुमान सम्बन्धी धारणा सभी की लगभग समान है। यद्यपि सांख्य और न्याय सम्मत अनुमान के त्रिविध रूपों का वेदान्त दर्शन में स्वार्थ और परार्थ भेद से केवल द्विविध ही स्वीकार किया गया है।

शब्द प्रमाण की उपयोगिता के विषय में सभी दर्शन एकमत हैं तथा लौकिक की अपेक्षा वैदिक शब्दों का ही प्रामाण्य अधिक स्वीकार करते हैं।

जहाँ सांख्य तीन प्रमाणों में अन्य प्रमाणों का अन्तर्भाव स्वीकार करता है, वहीं न्याय उपमान नामक, एक अलग प्रमाण मानकर चार प्रमाणों को आवश्यक मानता है। वेदान्ती इन सबसे अलग छः प्रमाणों की सत्ता स्वीकार करता है। यह अन्तर प्रमाणों के क्षेत्र की व्यापकता के आधार पर हुआ है। सांख्य के तीन प्रमाणों की व्याख्या का क्षेत्र इतना व्यापक है कि अन्य सभी प्रमाण उन्हीं तीन में ही अन्तर्भूत हो जाते हैं, जबकि न्याय और वेदान्त के प्रमाणों का क्षेत्र उतना व्यापक न होने से उन्हें अधिक प्रमाण स्वीकार करने पड़े हैं।

(4.3.2) प्रश्न— सांख्य एवं वेदान्त के सृष्टिक्रम की तुलनात्मक समीक्षा कीजिए।

अथवा

सांख्य दर्शन की सृष्टि प्रक्रिया की तुलना वेदान्त की सृष्टि प्रक्रिया से कीजिए।

उत्तर— प्रत्येक दर्शन ने सृष्टि—प्रक्रिया पर अपने विचार प्रस्तुत किये हैं, किन्तु उनमें से सबसे सराहनीय, सूक्ष्म एवं गम्भीर चिन्तन के फलस्वरूप एक व्यवस्थित तथा वैज्ञानिक विधान सांख्य एवं वेदान्त की सृष्टि प्रक्रिया में ही दृष्टिगोचर होता है, जिनका क्रमिक विकास इस प्रकार है—

सांख्यसम्मत सृष्टि—प्रक्रियाः—सांख्य के अनुसार जगत्, उत्पन्न नहीं, अपितु 'प्रकृति' नामक अव्यक्त तत्त्व से विकसित होता है। यह विकासक्रम प्रकृति और पुरुष के संयोग से सृष्टि कार्य रूप में परिणमित होता

है। सांख्य की प्रकृति त्रिगुणात्मक है। सत्त्व, रजस एवं तमस् के सम्मिलित रूप प्रकृति में यथार्थतः तीनों गुण ही क्रियाशील होते हैं।

इन गुणों की अपनी-अपनी पृथक्-पृथक् विशेषताएँ हैं। ये गुण जब शान्त, साम्यावस्था में रहते हैं, तब प्रकृति नाम से जाने जाते हैं; किन्तु इनमें विक्रोभ होने पर अव्यक्त प्रकृति से सृष्टि का विकास प्रारम्भ हो जाता है, अन्यथा समस्त व्यक्त पदार्थ अविकसित अवस्था में अव्यक्त में ही समाहित रहते हैं। प्रकृति को सृष्टि कार्य में प्रेरित करने वाला चेतन तत्त्व 'पुरुष' है, जोकि स्वयं निष्क्रिय है एवं गुणातीत है। इन दो विरोधी स्वभाव वाले तत्त्वों के संयोग से सृष्टि जैसा महनीय कार्य पंगु-अंध के समान परस्पर के सहयोग से पूर्ण होता है और प्रयोजन की सिद्धि के पश्चात् ये पुनः पृथक् भी हो जाते हैं। सांख्य के अनुसार प्रकृति-पुरुष के संयोग का प्रयोजन प्रकृति द्वारा पुरुष को अपने यथार्थ रूप का दर्शन कराके उसे 'कैवल्य' प्राप्त कराना है। प्रकृति-पुरुष का यह साहचर्य स्वाभाविक है। यथा-सत् पुरुष के शरीर से केश, लोम, नख आदि स्वतः उत्पन्न होते हैं और बछड़े की पुष्टि के लिए थनों से दूध स्वतः प्रवाहित होता है, उसी प्रकार प्रकृति स्वभाववश पुरुष के सान्निध्य में आकर विकसित होती है। सांख्य का यह सृष्टि विकास क्रम कुछ इस प्रकार है—

प्रकृति के गुणों (त्रिगुण) में क्षोभ होने से सर्वप्रथम महत् (बुद्धि) तत्त्व विकसित होता है, जिसमें धर्म, ज्ञान, ऐश्वर्य और वैराग्य जैसे उत्कृष्ट (सात्त्विक) गुण रहते हैं। वस्तुतः महत् शब्द समष्टि सूचक और बुद्धि व्यष्टि सूचक है और यह निर्विकल्पक प्रकृति की सर्वप्रथम सविकल्पक अभिव्यक्ति है। इसी बुद्धि के तामसी भेद में अधर्म, अज्ञान, राग एवं अनैश्वर्य जैसे भाव रहते हैं। बुद्धि के ये आठों (चार सात्त्विक, चार तामसिक) भाव लिंग शरीर में रहते हैं। तेरह करणों में बुद्धि प्रधान अध्यवसायात्मक (निश्चयात्मक ज्ञान देने वाला) अन्तःकरण है।

बुद्धि की विकृति (विकार) अहंकार (अन्तःकरण) है, जिसका सम्बन्ध कर्तृत्व के साथ है। इसी से असंग 'पुरुष' अपने को कर्त्ता तथा भोक्ता मानने लगता है। यह बुद्धि के रजोगुण से उत्पन्न होने के कारण क्रियात्मकता से परिपूर्ण होता है। व्यवहार में भी अहं (अभिमान) जागृत होने पर ही कार्य में प्रवृत्ति दिखलाई पड़ती है। त्रिगुणात्मक प्रकृति का कार्य (विकार) होने से इस अभिमानात्मक अहंकार के भी तीन रूप हैं—वैकृत, भूतादि और तैजस्। (1) वैकृत अहंकार सतोगुण प्रधान होने से एकादश इन्द्रियों को अभिव्यक्त करता है जो कि ज्ञान की प्रकाशक हैं। (2) भूतादि से तमोगुण विशिष्ट होने के कारण पांच तन्मात्राएँ व्यक्त होती हैं। (3) तैजस् रजोगुण प्रधान होने से दोनों के साथ मिलकर प्रेरित करके सर्जन कार्य करता है। एकादश इन्द्रियों में पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ— श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा, घ्राण तथा पाँच कर्मेन्द्रियाँ—वाक्, पाणि, पाद, पायु (गुदा), तथा उपस्थ (जननेन्द्रिय) और एक मन नामक उभयेन्द्रिय ज्ञानेन्द्रिय भी और कर्मेन्द्रिय भी है, जो कि आत्मा का ज्ञापक होने से इन्द्रिय कहा जाता है। ज्ञानेन्द्रियों (बुद्धीन्द्रियों) का कार्य क्रमशः शब्द, स्पर्श, रूप, रस गन्ध को प्रकाशित करना और कर्मेन्द्रियों का कार्य क्रमशः वाणी, आदान-प्रदान, गमन, मल-त्याग, आनन्द रूप में ग्रहण अथवा आहरण करना है। ये इन्द्रियाँ अत्यधिक सूक्ष्म तथा इनका अधिष्ठाता पुरुष है। ये प्रायः बहिर्मुखी किन्तु यदा-कदा अन्तर्मुखी

भी होती हैं। मन अत्यधिक सूक्ष्म इन्द्रिय होने से अन्तःकरण में परिगणित है। यद्यपि ज्ञानोपलब्धि में यह बाह्येन्द्रियों (ब्राह्मकरण—पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय) से सम्बद्ध होता है। मन का सम्बन्ध तीनों कालों से है। अतः सांख्य में इन्द्रियों में श्रेष्ठ **संकल्प—विकल्पात्मक** लक्षण वाले इस मन को द्वारि (द्वार—रक्षक) तथा समस्त इन्द्रियों को 'द्वार' कहा गया है।

इस प्रकार बुद्धि, मन और अहंकार—त्रिविध अन्तःकरण और दस इन्द्रियों को मिलाकर सांख्य **त्रयोदश (तेरह) करण** स्वीकार करता है। इनमें से अन्तःकरण त्रैकालिक होने से श्रेष्ठ तथा बाह्यकरण (इन्द्रियाँ) केवल वर्तमान कालिक हैं। अन्तःकरणों का कार्य द्विविध है—असामान्य और सामान्य। इनके अपने—अपने लक्षण ही इनके असामान्य कार्य हैं; किन्तु सम्मिलित रूप से सामान्य व्यापार, यथा—पञ्च वायु—प्राण, अपान, व्यान, उदान तथा समान को धारण करना है।

तमोगुण प्रधान **"भूतादि"** से **पञ्च तन्मात्राएँ**— शब्द तन्मात्र, स्पर्श—तन्मात्र, रूप —तन्मात्र, रस—तन्मात्र तथा गन्ध—तन्मात्र, उत्पन्न होती हैं। तन्मात्र से तात्पर्य—तत् एव (वही) मात्र से है, जोकि उस शब्द के अर्थ को केवल उसी तक सीमित करता है। ये अतिसूक्ष्म होने के कारण अविशेष कहलाती हैं। भौतिक सृष्टि की सारतत्त्व ये तन्मात्राएँ एक दूसरे से संयुक्त होकर स्थूल पञ्च महाभूतों का निर्माण करती हैं। स्थूल होने से इन्हें **विशेष** कहा गया है। तन्मात्राओं की इस सृष्टि में महाभूतों में गुणों की संख्या क्रमशः उत्तरोत्तर अधिक होती जाती है। यथा आकाश में एकमात्र गुण शब्द है, किन्तु अन्तिम महाभूत पृथिवी सभी तन्मात्राओं के गुण—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध वाली है। इन्हीं पञ्च महाभूतों से स्थूल शरीर उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार संक्षेप में सृष्टि का यह विकास द्विविध है—

1. प्रत्यय सर्ग अथवा बौद्धिक सृष्टि— (त्रयोदश करण)
2. तन्मात्र अथवा भौतिक सर्ग (सृष्टि)— (पञ्च तन्मात्र और स्थूल भूत)

सृष्टि के ये दोनों रूप भोगापवर्ग (भोग और मोक्ष) रूप पुरुषार्थ की सिद्धि के लिए एक दूसरे की अपेक्षा रखते हैं। कारण, धर्मादि भाव स्थूल शरीर के बिना असाध्य हैं और लिंग (सूक्ष्म) शरीर के निर्माण का हेतु ये भाव ही हैं। सूक्ष्म (लिंग) शरीर का निर्माण 18 तत्त्वों (त्रयोदश करण+पंच तन्मात्राओं) से होता है, जिसकी उत्पत्ति प्रति पुरुष सृष्टि के आरम्भ में ही हो जाती है। यही सृष्टि के अन्त तक रहने से नित्य, अप्रतिहत गतिवाला, तीनों लोकों ने स्थूल शरीर के धारण तथा त्याग द्वारा संसरण करता है। स्थूल शरीर के नष्ट हो जाने पर अन्य शरीर की प्राप्ति तक बुद्धि आदि के लिए इसकी उपयोगिता किसी चित्र के लिए भित्ति (दीवार) के समान है। सूक्ष्म शरीर का आधार स्थूल शरीर है, जोकि परिवर्तनशील होने के कारण नित्य नहीं है। सांख्य में स्थूल शरीर पर्यन्त ही विकास का उल्लेख है; क्योंकि इसके पश्चात् विकास प्रत्यक्षतः दृष्ट है।

वेदान्तसम्मत सृष्टि—प्रक्रिया:—सांख्य से भिन्न वेदान्ती सृष्टि का आधार एकमात्र चेतन 'ब्रह्म' को बतलाते हैं। वेदान्त में ब्रह्म ही जगत् का उपादान और निमित्त कारण दोनों हैं। यह जगत् ब्रह्म से सत् पुरुष के शरीर से केश—लोम आदि के सदृश ही उत्पन्न हुआ है। जिस प्रकार मनुष्य की श्वासोच्छ्वास प्रक्रिया स्वाभाविक है। उसी प्रकार ब्रह्म से सृष्टि भी उत्पन्न तथा विनष्ट होती है। इस नामरूपात्मक जगत् का

बीज कारण ब्रह्म अपनी माया नाम्नी शक्ति के द्वारा सृष्टि करके स्वयं समस्त सांसारिक दोषों से अस्पृष्ट रहता है। माया (अज्ञान) नाम्नी यह अनिर्वचनीय विलक्षण शक्ति दो रूपों वाली है— (1) आवरण शक्ति— यह वस्तु के यथार्थ रूप को आच्छादित (ढकती) करती है और (2) विक्षेप शक्ति— यह आच्छादित वस्तु में नवीन वस्तु की उद्भावना करती है। इस प्रकार वस्तु में परिवर्तन न होते हुए भी अन्य वस्तु का दर्शन होने लगता है।

वेदान्तिक सृष्टि का क्रमिक विकास सूक्ष्मतरु रूप से स्थूलतरु रूप की दिशा में होता है, जिसकी प्रमुख तीन अवस्थाएँ हैं— (1) कारणावस्था (2) सूक्ष्मावस्था तथा (3) स्थूलावस्था। समष्टि और व्यष्टि के भेद से तीनों अवस्थाओं का द्विविध वर्णन क्रमशः इस प्रकार है—

(1) कारणावस्था (कारण शरीर) — माया में जब सत्त्वगुण प्रधान होता है तथा शेष दोनों गुण रजस् एवं तमस् गौड़ होते हैं, तब शुद्ध सत्त्व प्रधान उत्कृष्टोपाधि से आवृत्त चैतन्य समष्टि रूप 'ईश्वर' कहा जाता है। यह ईश्वर माया का स्वामी होने से सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् और व्यापक होता है। यह समष्टि रूप ईश्वर सम्पूर्ण सृष्टि का कारण होने से 'कारण शरीर' है। आनन्द के आधिक्य से युक्त एवं कोश के समान चैतन्य का आच्छादक होने से इसको आनन्दमय कोश कहते हैं। जब रजस् तथा तमस् से अभिभूत होने के कारण सत्त्व गुण मलिन हो जाता है तब मलिन सत्त्व प्रधान निकृष्टोपाधि से उपहित चैतन्य व्यष्टि रूप में 'प्राज्ञ' (जीव) कहा जाता है। यह जीव माया का वशवर्ती होने के कारण अल्पज्ञ होता है। इस जीव की उपाधिभूता व्यष्टि को भी 'कारण शरीर' कहा जाता है। आनन्द का आधिक्य होने से और चैतन्य का आच्छादक होने से इसको आनन्दमय कोश कहते हैं। ईश्वर तथा जीव ये दोनों मायोपहित चैतन्य की सूक्ष्मतरु अवस्थाएँ हैं। इसमें सूक्ष्म एवं स्थूल प्रपञ्चों का लय होता है। अतः इसको 'सुषुप्ति' भी कहा जाता है। सुषुप्ति में स्वप्न और जागरण के विलीन हो जाने पर ईश्वर तथा जीव दोनों अज्ञान से अभिभूत होकर आनन्द का अनुभव करते हैं। यथार्थ में ईश्वर और जीव दोनों एक हैं। उपाधि भेद से दोनों अलग-अलग प्रतीत होते हैं।

सूक्ष्मावस्था (सूक्ष्म शरीर):— तमोगुण प्रधान विशेष शक्ति के द्वारा मायोपहित चैतन्य से आकाश की उत्पत्ति होती है, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथ्वी की उद्भावना होती है। यहीं आकाशादि सूक्ष्मभूत कहे जाते हैं। इन आकाशादि पञ्चभूतों में सत्त्व, रजस् एवं तमस्—त्रयगुण प्रत्येक में विद्यमान हैं। इन पृथक्-पृथक् भूतों के व्यष्टि सात्त्विकांश से पृथक्-पृथक् इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं, यथा—आकाश से श्रोत्र, वायु से त्वक्, अग्नि से चक्षु, जल से रसना तथा पृथ्वी से घ्राण। आकाशादि पञ्चभूतों के समष्टि सात्त्विकांश से बुद्धि, मन, अहंकार और चित्त नामक अन्तःकरण की वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं। इनमें बुद्धि की निश्चयात्मिका वृत्ति, मन की संकल्प-विकल्पात्मिका वृत्ति होती हैं। ये वृत्तियाँ प्रकाशात्मक हैं। वेदान्तसार के अनुसार चित्त का बुद्धि में तथा अहंकार का मन में अन्तर्भाव हो जाता है। यह निश्चयात्मिका बुद्धि पाँच ज्ञानेन्द्रियों के साथ मिलकर 'विज्ञानमय कोश' कही जाती है। विज्ञानमय कोश से परिच्छिन्न चैतन्य ही जीव कहा जाता है। यह विज्ञानमय कोश ज्ञानशक्ति

से युक्त होने के कारण कर्ता रूप है, विमर्शात्मक मन पञ्च ज्ञानेन्द्रियों के साथ संयुक्त होकर 'मनोमय कोश' कहा जाता है।

आकाशादि पञ्चभूतों के रजोगुणांश से पृथक्-पृथक् व्यष्टि रूप में वाक्-पाणि-पाद तथा उपस्थ पञ्च कर्मेन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं, क्रिया प्रधान होने के कारण इनको कर्मेन्द्रिय कहते हैं। इन्हीं आकाशादि पञ्चभूतों के रजोगुणांश से समष्टि रूप में क्रमशः प्राण-अपान-व्यान-उदान और समान पञ्च वायु उत्पन्न होते हैं। इनमें प्राण वायु नासिका के अग्रभाग में रहता है। इसकी गति ऊपर की ओर है। अपान वायु गुदादि स्थानों में रहता है। इसकी गति नीचे की ओर है। व्यान समस्त शरीर में रहता है इसकी गति चहुँ ओर होती है। उदान वायु कण्ठ में रहता है, जो जीवात्मा को ऊपर की ओर ले जाता है। समान वायु उदर में रहता है। यह शरीर के भीतर पहुँचे अन्नादि का समुचित परिपाक करता है। पञ्च वायु कर्मेन्द्रियों के साथ मिलकर 'प्राणमय कोश' नाम धारण करते हैं। विज्ञानमय, मनोमय तथा प्राणमय कोश संयुक्त रूप में 'सूक्ष्म शरीर' कहे जाते हैं। इसमें पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ, पञ्च कर्मेन्द्रियाँ, पञ्च प्राण, बुद्धि और मन सत्रह अवयव रहते हैं। शरीर में ज्ञान, क्रिया एवं इच्छा ये तीनों शक्तियाँ विद्यमान रहती हैं। सूक्ष्म शरीर की इस समष्टि से आवृत्त चैतन्य 'सूत्रात्मा' अथवा 'हिरण्यगर्भ' कहा जाता है। इसी शरीर की व्यष्टि से आवृत्त चैतन्य 'तैजस्' कहलाता है। सूक्ष्म शरीर की यह अवस्था स्वप्नावस्था होती है।

स्थूलावस्था :-स्थूल शरीर की उत्पत्ति पञ्चीकृत पञ्चमहाभूतों से होती है। जिनका पञ्चीकरण एक विशिष्ट प्रक्रिया द्वारा होता है। इस प्रक्रिया में आकाशादि प्रत्येक पञ्च सूक्ष्म भूतों को दो-दो समान भागों में बाँटा जाता है, उनमें से प्रत्येक अर्द्धभाग को पुनः चार भागों में विभक्त किया जाता है। एक सूक्ष्म भूत का अर्द्ध भाग तथा शेष सूक्ष्म भूतों में प्रत्येक का आठवाँ भाग मिलकर एक महाभूत बनता है। यथा—

द्विधा विधाय चैकैकं चतुर्धा प्रथमं पुनः।

स्वस्वेतर द्वितीयांशैर्योजनात् पञ्च-पञ्च ते।।'

इन पञ्चीकृत स्थूल भूतों में क्रमशः आकाश में शब्द, वायु में शब्द और स्पर्श, अग्नि में शब्द, स्पर्श एवं रूप, जल में शब्द, स्पर्श, रूप तथा रस और पृथ्वी में शब्द स्पर्श, रूप, रस और गन्ध अभिव्यक्त होते हैं।

इन पञ्चीकृत भूतों से चौदह लोक, समस्त ब्रह्माण्ड, चतुर्विध स्थूल शरीर-जरायुज, अण्डज उद्भिज और स्वदेज तथा उनके योग्य भोग्य पदार्थ उत्पन्न होते हैं। इन स्थूल शरीरों में मनुष्य, पशु आदि-जरायुजः, पक्षी, सर्पादि-अण्डज, पसीना से पैदा होने वाले जुआँ, चीलरादि-स्वदेज तथा पृथ्वी फोड़कर निकलने वाले वृक्ष, लताएँ आदि उद्भिज कहे जाते हैं। इस चतुर्विध स्थूल सृष्टि की समष्टि से आवृत्त चैतन्य 'वैश्वानर' या 'विराट' कहा जाता है तथा व्यष्टि से आवृत्त चैतन्य 'विश्व' कहा जाता है। इस प्रकार कारण शरीर और सूक्ष्म शरीर मिलकर स्थूल शरीर को उत्पन्न करते हैं। यह जीव की जागरणावस्था है। इस अवस्था में जीव विषयों का भोग करता है। स्थूल शरीर को ही अन्नमय कोश

कहते हैं। इस प्रकार कारण सृष्टि, सूक्ष्म सृष्टि तथा स्थूल सृष्टि तीनों की समष्टि से एक महाप्रपञ्च बनता है। यह समस्त प्रपञ्च ब्रह्म ही है— 'सर्व खल्विदं ब्रह्म।' इसमें रहने वाले ईश्वर—प्राज्ञ, सूत्रात्मा—तैजस आदि उपाधि भेद से अलग अलग भासित होते हैं। तात्त्विक दृष्टि से तो सब एक ही हैं। संक्षेप में यही वेदान्त की सृष्टि प्रक्रिया है।

तुलनात्मक समीक्षा :- दोनों दर्शनों के सृष्टिक्रम में पर्याप्त भिन्नता है, जो इस प्रकार देखी जा सकती है— (1) सांख्य प्रकृति से गुणों में न्यूनाधिक्य भाव (विक्षोभ) होने पर सर्वप्रथम महत् (बुद्धि) तत्त्व का विकास बताता है, जबकि वेदान्त बुद्धि—विकास आकाशादिक तन्मात्राओं के सात्त्विक अंश की समष्टि से मानता है।

2. सांख्य मत में बुद्धि से विकृत (उत्पन्न) होने वाला तत्त्व अहंकार है। वेदान्त अहंकार को भी आकाश आदि तन्मात्राओं के मिलित सात्त्विकांश से विकसित मानता है; किन्तु सांख्य के समान इसका पृथक् पदार्थत्व नहीं स्वीकार करता है। वहाँ मन में ही इसका समन्वय कर दिया है। साथ ही मन, बुद्धि अहंकार तथा चित्त को अन्तःकरण चतुष्टय की संज्ञा प्रदान की है। सांख्य अन्तःकरण में चित्त को स्थान नहीं देता है। सांख्य को त्रिविध अन्तःकरण मान्य हैं।

3. एकादश इंद्रियों का प्रादुर्भाव सांख्य को अहंकार के सात्त्विक अंश से स्वीकृत है, जबकि वेदान्त आकाशादिक अपंचीकृत तन्मात्राओं के सात्त्विक अंश से व्यष्टिरूपेण क्रमानुसार पाँच बुद्धीन्द्रियों तथा राजस अंश से पृथक्—पृथक् पाँच कर्मेन्द्रियों का उद्भव बताता है। वेदान्तक्रमानुसार सर्वप्रथम आविर्भूत पंचतन्मात्राएँ सांख्य के यहाँ अहंकार के तामस् अंश का परिणाम मानी गयी हैं। साथ ही सांख्य रजोगुण को सतोगुण और तमोगुण का प्रवर्तक मात्र मानता है, किन्तु वेदान्त रजोगुण को भी प्रसवधर्मी स्वीकार करता है।

4. सांख्य पंचमहाभूतों— आकाश, वायु, जल, तेज और पृथिवी को पंचतन्मात्राओं का परिणमन मानता है। पंचमहाभूतों के आविर्भाव हेतु सांख्य ने किसी नवीन तथा विशिष्ट विधान अंगीकार नहीं किया है, किन्तु वेदान्त इनकी उत्पत्ति हेतु 'पंचीकरण—प्रक्रिया' की कल्पना करता है।

5. सूक्ष्म शरीर के विषय में भी इनमें परस्पर आंशिक विभेद है। सांख्य का विश्वास है कि मन, बुद्धि, अहंकार, पंच ज्ञानेन्द्रियों, पंच कर्मेन्द्रियों तथा पंच तन्मात्राओं का समूह सूक्ष्म शरीर का निर्माण करता है। जबकि वेदान्त सूक्ष्म शरीर को दस इन्द्रियों, पंचप्राणों, मन और बुद्धि सत्रह अवयवों से युक्त मानता है। सांख्य पंचप्राणों की पृथक् गणना न करके उसे अन्तःकरण की सामान्य वृत्ति बतलाता है।

6. वेदान्त की पंचीकरण प्रक्रिया के अतिरिक्त स्थूलभूतों से स्थूल सृष्टि—चौदह भुवन तथा उसमें निवास करने वाले प्राणियों का रचनाक्रम स्वल्पभेद से सांख्य को भी मान्य है।

7. दोनों दर्शनों में सृष्टिक्रम सम्बन्धी अन्तर के अतिरिक्त सृष्टि सम्बन्धी धारणा में विभेद होने का आधार कारणवाद है। कारण—कार्य सिद्धान्त के आधार पर ही सृष्टि और प्रलय है। सांख्य ने परिणामवाद को अंगीकार किया है और वेदान्त ने विवर्तवाद को। विवर्तवाद अतात्त्विक परिवर्तन स्वीकार करता है, जबकि परिमाणवाद तात्त्विक परिवर्तन।

8. परिणामवादी सांख्य स्वतंत्र पूर्णसामर्थ्य वाली प्रकृति को समस्त परिवर्तनों का आधार मानता है। सम्पूर्ण सृष्टि प्रकृति से विकसित होकर प्रलयावस्था में व्युत्क्रम से उसी में समा जाती है। यह विकास प्रकृति की वास्तविक विकृति है। यथा—दूध का विकार दही। इसीलिए सांख्य जगत् को मिथ्या भ्रम न मानकर सत्य मानता है।

9. वेदान्त विवर्तवाद के सिद्धान्त को ग्रहण कर जगत् को 'ब्रह्म' का विवर्त सिद्ध करता है।

10. ब्रह्म की उपाधि माया सांख्यीय प्रकृति के समान स्वतंत्र रूप से इच्छापूर्वक सृष्टि कार्य के लिए उत्तरदायी नहीं है। इसीलिए वेदान्त की सृष्टि अधिक सुव्यवस्थित और वैज्ञानिक है।

11. वेदान्त सांख्यीय प्रकृतिकारणवाद का खंडन करता है। वह सुव्यवस्थित जगत् को जड़ प्रकृति का कार्य मानना उचित नहीं समझता है; क्योंकि प्रकृति की कल्पना आनुमानिक है।

12. वेदान्त दर्शन सृष्टि कार्य को ईश्वर की स्वाभाविक क्रिया बताता है और सांख्य 'ईश्वर' के स्थान पर यह स्वाभाविक क्रिया 'प्रकृति' की मानता है, जो कि जड़ है।

13. सांख्य प्रकृति — पुरुष का संयोग सृष्टि का हेतु बतलाता है; किन्तु दो विरुद्ध स्वभाव वाले चेतनाचेतन का संयोग किस प्रकार सम्भव है, इसकी स्पष्ट व्याख्या करने में असमर्थ है।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि 'प्रकृतिकारणवादी' सांख्य की अपेक्षा 'ब्रह्म—कारणवादी' वेदान्त सृष्टि समस्या का युक्ति युक्त समाधान प्रस्तुत करता है। यद्यपि वेदान्त की इस सफलता का श्रेय सांख्य को ही दिया जाना चाहिए क्योंकि सांख्य ने ही सर्वप्रथम सुदृढ़, व्यवस्थित तथा वैज्ञानिक पद्धति से सृष्टि क्रम का विवेचन किया है। किन्तु, सांख्य में कतिपय त्रुटियाँ रह गयी थीं जिनका परिहार वेदान्त ने किया। वेदान्त ने ईश्वर की कल्पना की, जिसमें ब्रह्म का चैतन्य और प्रकृति की क्रियाशीलता का एक साथ समावेश होने से सृष्टि का उचित विवेचन सम्भव हो सका।

(4.4) सारांश :-

दर्शनों की तुलनात्मक समीक्षा करते हुए इस इकाई के अन्तर्गत प्रमाण, सृष्टि प्रक्रिया, गुण विवेचन तथा मोक्ष की धारणा आदि से सम्बन्धित प्रश्नों के सम्यक् उत्तर देने के पश्चात् शेष ब्रह्म एवं जीव तथा आत्मा का स्वरूप संक्षेप में प्रस्तुत है—

ब्रह्म एवं जीव :-वेदान्त प्रतिपादित यह दोनों तत्त्व वस्तुतः एक होते हुए भी उपाधि भेद से भिन्न—भिन्न प्रतीत होते हैं। ब्रह्म की पारमार्थिक सत्ता है, जबकि जीव की व्यवहारिक सत्ता है। ब्रह्म मुक्त है, जीव बद्ध है। ब्रह्म चैतन्य है, जीव चैतन्याभासरूप। ब्रह्म उपाधियों से शून्य निरुपाधि है, जीव उपाधिविशिष्ट सोपाधि है। ब्रह्म निर्विशेष है, जीव सविशेष; किन्तु ब्रह्म और जीव के ये भेद भ्रान्तिजन्य हैं, काल्पनिक हैं। यथार्थ में ब्रह्म और जीव में कोई भेद नहीं है। ब्रह्म ही जीव है— 'जीवो ब्रह्मैव नापरो।' ब्रह्म और जीव का स्वरूप शुद्ध चैतन्य है। चैतन्य की शुद्धता का अर्थ एकरस रूप होना है। इस प्रकार शुद्ध चैतन्य होने से ब्रह्म और जीव तत्त्वतः एक ही हैं। औपाधिक भेद होने से दोनों अलग अलग प्रतीत होते हैं।

आत्मा :- समग्र दार्शनिक चिन्तन का मूलाधार मूलतत्त्व आत्मा है। चाहे वह दर्शन आस्तिक हो अथवा नास्तिक। सभी आत्मा का अस्तित्व एक स्वर से स्वीकार करते हैं। कारण, आत्मा स्वयं सिद्ध है। उसका निराकरण असम्भव है; क्योंकि निराकरण बाहर से प्राप्त वस्तु का होता है, अपने रूप का नहीं। यथा—अग्नि से उसकी उष्णता का निराकरण असम्भव है। अनुभूतिजन्य आत्मा के विषय में श्रुति का कथन है कि 'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।' यही कारण है कि वेदान्त आत्मा की सिद्धि के लिए कोई प्रमाण अथवा तर्क प्रस्तुत नहीं करता है; क्योंकि ये दोषयुक्त साधन हैं। आत्मा तो वास्तव में अनुभूति का विषय है। सत्—चित्—आनन्द स्वरूप यह आत्मा स्वयं प्रकाशस्वरूप है, जिसका वास्तविक धर्म चैतन्य है। वस्तुतः आत्मा ही ब्रह्म है। ब्रह्म सम्बन्धी वर्णन आत्मा के लिए है और आत्मा सम्बन्धी वर्णन ब्रह्म के लिए है। आत्मा ब्रह्म का अंश नहीं अपितु सत् तत्त्व ही है। इससे इतर सम्पूर्ण दृश्यमान जगत् मिथ्या है।

कार्य—कारण सिद्धान्त :- कुछ—कुछ भिन्नता के साथ प्रत्येक दर्शन कार्य—कारण सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं। कारण, सृष्टि का विधान इसी सिद्धान्त पर आश्रित है। बिना कारण के कार्य का अस्तित्व ही नहीं है। इसी कार्य—कारण सिद्धान्त को जहाँ सांख्य सत्कार्यवाद के रूप में स्वीकार करता है, वहीं न्याय—वैशेषिक असत्कार्यवाद का प्रतिपादन करते हैं। वेदान्त के अनुसार कार्य, कारण से पृथक् नहीं है, बल्कि कार्य, कारण का ही भ्रान्त (अध्यास) रूप है। ब्रह्म एकमात्र परमार्थ सत् है, जगत् उसका विवर्त है। जगत् का मूल कारण वेदान्तानुसार 'ब्रह्म है, जो कि अभिन्ननिमित्तोपादानस्वरूप है। कारण दो प्रकार के होते हैं (1) निमित्त कारण (2) उपादान कारण। कार्योत्पत्ति में सहायक चेतना प्रधान निमित्तकारण कहलाता है। यथा—कुम्भकार घट का निमित्त कारण तथा मृत्तिका उपादान कारण है। समस्त जागतिक दोनों कारण अलग—अलग ही होते हैं; किन्तु ब्रह्म अकेला ही जगत् का निमित्त और उपादान दोनों कारण है। यथा—मकड़ी जाल—निर्माण कार्य के प्रति अपने चैतन्यांश की प्रधानता से निमित्त कारण है और स्व शरीर की प्रधानता से उपादान कारण है, तथैव आवरण और विक्षेप शक्तियों से उत्पन्न अज्ञानोपहित चैतन्य अपनी प्रधानता के कारण जगत् का निमित्त कारण है और अपनी उपाधि की प्रधानता से उपादान कारण भी है। इस प्रकार एकमात्र अज्ञानोपहित ब्रह्म (ईश्वर) ही समस्त सृष्टि का निमित्त और उपादान कारण है। संक्षेप में विभिन्न दर्शनगत येही तत्त्वमीमांसा, प्रमाणमीमांसा एवं ज्ञानमीमांसा है।

(4.5) सन्दर्भित पुस्तकें :-

1. भारतीय दर्शन—बलदेव उपाध्याय
2. भारतीय दर्शन— उमेश मिश्र
3. भारतीय दर्शन— डॉ० नन्दकिशोर देवराज
4. भारतीय दर्शन— विक्रमादित्य सिंह
5. सर्वदर्शन संग्रह प्रो० उमाशंकर शर्मा 'ऋषि'

(4.6) बोध प्रश्न :-

(4.6.1) बोध प्रश्न (दीर्घ उत्तरीय) :

1. प्रश्न— सत्कार्यवाद की व्याख्या करते हुए इस सम्बन्ध में बौद्धों, नैयायिकों और वेदान्तियों का मत स्पष्ट कीजिए।

अथवा

कार्य-कारणवाद की दृष्टि से सांख्य, न्याय, वेदान्त तथा बौद्धमत की तुलनात्मक समीक्षा कीजिए।

अथवा

सांख्य प्रतिपादित सत्कार्यवाद से बौद्ध, नैयायिक तथा वेदान्ती कहाँ तक सहमत व असहमत हैं? स्पष्ट कीजिए।

उत्तर— सांख्य दर्शन का प्रमुख सिद्धान्त 'सत्कार्यवाद' है; जिसके अनुसार कारण व्यापार के पूर्व कारण में कार्य सत् (विद्यमान) रहता है। सांख्य किसी नवीन पदार्थ की उत्पत्ति नहीं मानता, अपितु अभिव्यक्ति मानता है। यथा—अंधकार में रखे पदार्थ को दीपक अभिव्यक्त करता है, उत्पन्न नहीं करता। तिल में तेल पहले से सत् (विद्यमान) होता है। पेरने से वह अभिव्यक्त हो जाता है, पैदा नहीं होता। यदि पहले से विद्यमान न होता तो किसी को भी पेरने से तेल की प्राप्ति हो सकती थी, किन्तु ऐसा नहीं होता है। अतः सिद्ध है कि कार्य, कारण में पहले से विद्यमान होता है। कार्य की कारण में पूर्व सत्ता को सिद्ध करने के लिए सांख्य ने पाँच हेतु दिये हैं; जिनका बृहत् विवेचन इकाई 2 के अन्तर्गत (2.6.1 में) किया गया है, जो दृष्टव्य है। संक्षेप में ये पाँच हेतु इस प्रकार हैं—

1. असदकरणात्— असत् से कोई वस्तु उत्पन्न नहीं हो सकती है।
2. उपादानग्रहणात्— किसी कार्य की सिद्धि में उसका निश्चित ही उपादान कारण होता है।
3. सर्वसम्भवाऽभावात्— सब कार्य सब कारणों से सम्भव नहीं होते हैं।
4. शक्तस्यशक्यकरणात् —कार्य को उत्पन्न करने की शक्ति कारण में पूर्व से ही होती है।
5. कारणभावात्— कार्य कारण स्वरूप होता है, उससे भिन्न नहीं होता है।

समीक्षा— सांख्यमत में अवस्था परिवर्तन संसार का नियम है। नई वस्तु न तो उत्पन्न होती है और न ही उस वस्तु का कभी विनाश होता है। यही सत्कार्यवाद है। यहाँ अव्यक्त की अभिव्यक्ति ही कार्य की उत्पत्ति है तथा व्यक्त का पुनः अव्यक्त हो जाना ही 'नाश' है। इस प्रकार उत्पत्ति और नाश एक धर्म को छोड़कर दूसरे धर्म को ग्रहण करना है। इसीलिए यह सत्कार्यवाद का परिणामवाद रूप कहलाता है; जब कि इसी सत्कार्यवाद का विवर्तवादी रूप वेदान्त स्वीकार करता है।

बौद्ध दार्शनिक असत् से सत् की उत्पत्ति मानकर शून्यवाद का प्रवर्तन करते हैं। उनके अनुसार कारण से कार्य की उत्पत्ति तभी होती है, जब कारण असत् अर्थात् विनष्ट हो जाता है। यथा—बीज के नष्ट होने पर ही अंकुर फूटता है।

समीक्षा— असत् से सत् की उत्पत्ति मानने में सबसे बड़ा दोष यह देखने में आता है कि असत् से ही जब सत् की उत्पत्ति होनी है तो रव-पुष्प (आकाश कुसुम) से भी मधु प्राप्त किया जा सकता है और बन्ध्यापुत्र भी राजा बन सकता है। किन्तु, ऐसा कुछ भी प्रत्यक्ष किसी को संसार में नहीं होता। अतः सत् कारण से ही सत्कार्य की उत्पत्ति मानना समीचीन है।

न्याय-वैशेषिक मत के अनुसार परमाणु आदि में पूर्वतः अविद्यमान द्वयणुक आदि नवीन कार्य उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार नैयायिक **आरम्भवादी** अथवा **असत्कार्यवाद** के प्रतिपादक हैं। इनके अनुसार तन्तु में पट पहले से विद्यमान नहीं है, अपितु तन्तुओं में समवेत होने पर ही पट रूप कार्य का आरम्भ होता है।

समीक्षा— सत् कारण से असत् कार्य की उत्पत्ति मानने में सबसे बड़ा दोष यह है कि तब सत् और असत् में अभेद सम्भव नहीं हो सकेगा। कार्य के अनुसार ही कारण का अनुमान तभी हो सकता है, जब कार्य और कारण दोनों सत् हो। कारण सत् और कार्य असत् मानने से कारण के गुणों की सम्भावना कार्य में नहीं की जा सकती। यह सम्भावना सत् कारण की उत्पत्ति मानने पर ही सिद्ध हो सकती है, अन्यथा नहीं। **वेदान्ती** सत्कार्यवाद के ही दूसरे रूप विवर्तवाद की स्थापना करते हैं, जिसके अनुसार एकमात्र सत् वस्तु (ब्रह्म) का ही सम्पूर्ण जगत् विवर्त है, कार्य नहीं। इस प्रकार वेदान्त विकार के स्थान पर विवर्त का प्रतिपादन करता है। तात्त्विक रूप से एक तत्त्व का परिवर्तित होना ही कार्य अथवा विकार (परिणाम) कहा जाता है, जबकि अतात्त्विक परिवर्तन अर्थात् तत्त्व में अतत्त्व की प्रतीति विवर्त कहलाती है। यथा—

‘सतत्त्वतोऽन्यथाप्रथा विकार इत्युदीरितः।’

अतत्त्वतोऽन्यथाप्रथा विवर्त इत्युदीरितः।।’

—पञ्चदशी

समीक्षा— समस्त जागतिक प्रपञ्च को एक ही सत्-ब्रह्म का विवर्त मानने से ‘सतः सज्जायेत्’ अर्थात् सत् से सत् की उत्पत्ति के सिद्धान्त का इस रूप में सम्यक् परिपालन होता नहीं दिखलाई पड़ता है कि इस अद्वय सत्ता-ब्रह्म के प्रपञ्चात्मक न होने के कारण सुख-दुःख मोहात्मक जागतिक प्रपञ्च की उत्पत्ति कैसे सम्भव है? इस त्रिगुणात्मक जगत् का तो कोई मूल कारण त्रिगुणात्मक ही होना चाहिए, जैसे कि सांख्य की प्रकृति। इस प्रकार सत्कार्यवादी सांख्याचार्यों के मत में जगत् ब्रह्म का विवर्त होने से असत् नहीं, बल्कि प्रकृति का कार्य होने से सत् है और यह सिद्धान्त अधिक व्यावहारिक व ग्राह्य है।

(4.6.2) बोध प्रश्न (लघु उत्तरीय)

1. प्रश्न— सांख्य एवं वेदान्त के मोक्ष की तुलनात्मक समीक्षा कीजिए।

अथवा

सांख्य के कैवल्य की वेदान्त के मोक्ष से तुलना कीजिए।

उत्तर— संस्कृत की मुच् धातु से त्यागना अर्थ में निर्मित मोक्ष शब्द का अर्थ सामान्यतया ‘मृत्यु’ से है; क्योंकि शरीर त्याग के साथ ही सुख-दुःखादि की अनुभूति का नाश हो जाता है। इसीलिए दार्शनिक

जगत् में मोक्ष का सम्बन्ध 'क्लेशों' की निवृत्ति' से है, जो कि मृत्यु से नितान्त पृथक् परम शान्ति और आनन्द की दिव्य अवस्था है, जन्म-मृत्यु की श्रृंखला का अन्त है।

सांख्य में बन्धन और मोक्ष दोनों का सम्बन्ध प्रकृति से है। पुरुष का बन्धन और मोक्ष एक भ्रामक धारणा है। वस्तुतः चित्प्रतिबिम्बित बुद्धि अपने आठ रूपों में से ज्ञान को छोड़कर अन्य सात रूपों से अपने द्वारा ही अपना बन्धन करती है और ज्ञान रूप आठवें रूप से अपना मोक्ष करती है। भ्रमादिरहित विशुद्ध केवल ज्ञान के उत्पन्न होते ही इस केवली तथा स्वच्छ पुरुष को कैवल्य (मोक्ष) पद की प्राप्ति हो जाती है।

वेदान्त में "मोक्ष" जीवन का अन्तिम परम लक्ष्य अथवा परम पुरुषार्थ है, जोकि ब्रह्मस्वरूप के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। यह मिथ्या ज्ञान की निवृत्ति मात्र है, जो कि सर्वदा अपरिवर्तनशील, क्षय, विकार तथा भेद बुद्धि से रहित अवस्था है। अखण्ड ब्रह्म का ज्ञान हो जाने पर जब अज्ञान और उसके कार्य-जगत् का नाश हो जाता है, तब जगत् के अन्तर्गत रहने वाली अखण्डाकाराकारित चित्तवृत्ति भी नष्ट हो जाती हैं। उस क्षण केवल ब्रह्ममात्र ही शेष रहता है, जिसे वेदान्त 'मोक्ष' की संज्ञा देता है। आचार्य शंकर के अनुसार आत्मा का ब्रह्म के साथ तादात्म्यभाव ही मोक्ष है।

समीक्षा:- कतिपय सैद्धान्तिक भिन्नताओं को छोड़कर मोक्ष के विषय में दोनों दर्शन एकमत हैं। दोनों ने ही ज्ञान को मोक्ष का साधन माना है। सांख्य का ज्ञान प्रकृति-पुरुष विवेकपरक है और वेदान्तानुसार ब्रह्म से अतिरिक्त समस्त जागतिक पदार्थों का मिथ्यात्व ज्ञान ही मोक्ष का साधन है। इस प्रकार सांख्यीय मोक्ष की धारणा द्वैतपरक है, जबकि वेदान्त के मोक्ष का आधार ब्रह्म और माया का पृथकत्व नहीं अपितु बंधन के हेतु इस माया की समाप्ति है, जो कि ब्रह्मज्ञान से स्वतः समाप्त हो जाती है।

(4.7) स्वपरख प्रश्न/अभ्यास :-

1. सांख्य की प्रकृति तथा वेदान्त की माया का तुलनात्मक विवेचन कीजिए।
2. कारण-कार्य सिद्धान्त की समीक्षा सांख्य, न्याय एवं वेदान्त की दृष्टि से कीजिए।
3. सांख्यसम्मत पुरुष की वेदान्त तथा न्याय की आत्मा से तुलना कीजिए।
4. द्वैतवाद तथा अद्वैतवाद पर प्रकाश डालिए।
5. सांख्य के दुःखत्रयवाद पर प्रकाश डालिए।
6. सांख्य एवं वेदान्त के अनुसार सूक्ष्म शरीर की तुलना कीजिए।
7. 'गुणत्रयवाद' को दर्शनों की कसौटी पर कस कर समीक्षा प्रस्तुत कीजिए।
8. आत्मा क्या है? वेदान्त और बौद्धमत की तुलना कीजिए।
9. विवर्तवाद और परिणामवाद पर टिप्पणी लिखिए।
10. न्याय-वैशेषिक के ईश्वर से वेदान्त के ईश्वर की तुलना कीजिए। क्या सांख्य ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करता। स्पष्ट कीजिए।
11. सांख्य के 'गुणवाद' पर प्रकाश डालिए।

अथवा

गुणत्रय से आप क्या समझते हैं। सांख्य प्रतिपादित गुण—स्वरूप पर प्रकाश डालिए।

अथवा

सत्त्व, रजस् एवं तमस् को गुण क्यों कहा जाता है? स्पष्ट कीजिए।

उत्तर—सत्त्व, रजस् एवं तमस्रूपा त्रिगुणात्मक प्रकृति के ये द्रव्यात्मक गुण इसलिए गुण कहलाते हैं, क्योंकि वे रस्सी के तीनों गुणों अथवा रेशों के समान आपस में मिलकर पुरुष को बाँधते हैं। प्रकृति के उद्देश्य के साधन में गौण रूप से सहायक होने के कारण भी ये गुण कहलाते हैं।

गुणों का लक्षण एवं स्वभाव — सांख्यकारिका में तीनों गुणों का लक्षण एवं स्वभाव इस प्रकार बताया गया है—

‘सत्त्वं लघु प्रकाशकमिष्टं उपष्टम्भकं चलं च रजः।

गुरु वरणकमेव तमः प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः।।

सत्त्वगुण :—सत्त्वगुण लघु, प्रकाशक एवं आनन्दस्वरूप है। ज्ञान में विषय—प्रकाशकत्व, इन्द्रिय में विषयग्राहिता आदि सत्त्वगुण के कारण है। इसका रंग श्वेत है। यह बुद्धिप्रधान जीवों में पाया जाता है। यह अतिसूक्ष्म है।

रजोगुण :— सत्त्व और तमस् स्वयं प्रवृत्तिशील न होने के कारण अपने प्रकाशन एवं नियमन आदि कार्यों के उत्पादन में असमर्थ होने पर रजस् के द्वारा उत्तेजित किये जाकर अपने कार्य में प्रवृत्तिशील होते हैं। इसीलिए रजस् उपष्टम्भक या उत्तेजक कहा गया है।

तमोगुण— यह सत्त्वगुण के विपरीत है। इससे वस्तुओं की गति नियन्त्रित होती है। यह जड़ता तथा निष्क्रियता को उत्पन्न करता है। इसके कारण बुद्धि का तेज मन्द पड़ता है। इससे मूर्खता या अन्धकार की उत्पत्ति होती है।

ये तीनों गुण परस्पर विरोधी होते हुए भी सहयोगी हैं। इनमें से कोई गुण अकेला न रहता है और न अन्य गुणों के सहयोग के बिना कार्य कर सकता है। यथा— **‘प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः**

सत्त्वादि गुणों के स्वरूप, कार्य (प्रयोजन) एवं क्रिया के प्रकार कुछ इस प्रकार हैं—

‘प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकाः प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्थाः।

अन्योऽन्याभिभवाश्रयजननमिथुनवृत्तयश्च गुणाः।।

सत्त्व, रजस् एवं तमस् ये तीनों गुण सुख—दुःख मोहात्मक हैं। ये तीनों गुण प्रकाशन, सञ्चालन एवं नियन्त्रण के लिए हैं। ये तीनों गुण एक दूसरे के अभिभावक, आश्रय बनने वाले, उत्पादक एवं सहचारी होते हैं।

सत्त्वादि गुणों के दो प्रकार के परिणाम हैं— 1) सरूप 2) विरूप। प्रलय की अवस्था साम्यावस्था में सरूप तथा सृष्टि की अवस्था विरूप परिणाम है। सत्त्वादिगुण पुरुष के भोगापवर्ग के लिए हैं।

बहुविकल्पीय प्रश्न :-

1. वेदान्त सम्मत प्रमाणों की संख्या कितनी है?

अ) तीन ब) चार स) दो द) छः

उत्तर— द

2. पंचीकरण किसे मान्य है?

अ) न्याय को ब) वेदान्त को स) सांख्यको द) योग को

उत्तर— ब

3. वेदान्त के अनुसार इन्द्रिय नहीं है—

अ) मन ब) वाक् स) त्वक् द) पाद

उत्तर—अ

4. मुक्ति का पर्याय नहीं है—

अ) मोक्ष ब) मृत्यु स) कैवल्य द) निर्वाण

उत्तर—ब

5. सांख्य के अनुसार बन्धन किसका होता है?

अ) ज्ञ का ब) व्यक्त का स) प्रकृति का द) पुरुष का

उत्तर—स

6. सांख्य के अनुसार अहंकार से उत्पन्न तत्त्वों की संख्या है—

अ) ग्यारह ब) बारह स) सोलह द) बीस

उत्तर— स

7. द्वैतवादी दर्शन है—

अ) वेदान्त ब) सांख्य स) न्याय द) वैशेषिक

उत्तर— ब

8. इन्द्रिय और अर्थ का सन्निकर्ष कितने प्रकार का होता है?

अ) पाँच प्रकार का ब) नौ प्रकार का स) छः प्रकार का द) आठ प्रकार का

उत्तर— स

9. हेत्वाभासों की संख्या है—

अ) चार ब) पाँच स) छः द) तीन

उत्तर—ब

10. न्याय के अनुसार ज्ञान कितने प्रकार का होता है?

अ) दो प्रकार का ब) तीन प्रकार का स) चार प्रकार का है द) पांच प्रकार का

उत्तर— अ

स्वयं अध्ययन सामग्री

पाठ्यक्रम	—	एम0ए0
वर्ष	—	पूर्वाद्ध
विषय	—	संस्कृत
प्रश्न पत्र	—	चतुर्थ
शीर्षक	—	दर्शन
इकाई	—	(5) नास्तिक दर्शन (जैन, बौद्ध और चार्वाक दर्शन)
लेखिका	—	डॉ0 सुधा गुप्ता
सम्पादक	—	प्रो0 अशोक कुमार कालिया

मध्यप्रदेश भोज (मुक्त) विश्वविद्यालय, भोपाल

एम0ए0 (पूर्वार्द्ध) संस्कृत

चतुर्थ प्रश्नपत्र-दर्शन

इकाई-5 नास्तिक दर्शन

(जैन, बौद्ध और चार्वाक दर्शन)

इकाई की रूपरेखा :-

(5.0) उद्देश्य

(5.1) प्रस्तावना

(5.2) इकाई के शीर्षक का अर्थ

(5.3) पाठ्यक्रम

(5.4) सारांश

(5.5) संदर्भित पुस्तकें

(5.6) बोध प्रश्न

(5.7) स्वपरख प्रश्न/अभ्यास

(5.0) उद्देश्य :-

भारतीय दर्शनों की नास्तिक वर्ग की शाखाओं में जैन, बौद्ध और चार्वाक दर्शन की गणना की जाती है। इस इकाई का उद्देश्य नास्तिकों की चिन्तन धारा से परिचित कराना है। इसके अध्ययन से आप इस योग्य हो सकेंगे कि-

- नास्तिकों की सोच की दिशाएँ जान सकें।
- नास्तिकों की चिन्तन सीमाएँ जान सकें।
- भौतिकवादी विचारधारा से परिचित हो सकें।
- ईश्वर, वेद आदि को न मानने के कारण व इसके लिए दिए गए उनके तर्कों की सार्थकता व निःसारता को भली-भाँति जान सकें।
- नास्तिक दर्शनों द्वारा स्थापित स्याद्वाद तथा क्षणभंगवाद जैसे सिद्धान्तों से परिचित हो सकें।

(5.1) प्रस्तावना :-

सामान्यतया भारतीय दर्शनों को दो श्रेणियों में विभक्त किया गया है-

क) आस्तिक दर्शन ख) नास्तिक दर्शन

चतुर्थ प्रश्न पत्र की प्रारम्भिक इकाइयों (1 से 4 तक) में आस्तिक दर्शनों की विवेचना करने के उपरान्त अन्तिम इस पाँचवी इकाई में नास्तिक दर्शनों से अवगत कराया जा रहा है। नास्तिक दर्शन वेदों पर न तो आधारित हैं और न ही उन्हें प्रमाण मानते हैं। कारण, ये वेदों की प्रामाणिकता पर विश्वास ही नहीं करते हैं। चार्वाक दार्शनिकों ने तो वेदों की खुलेआम निन्दा की है। उनके अनुसार वेदों में झूठ और

पुनरुक्तियाँ भरी पड़ी हैं और वेद के रचयिता भाँड़, धूर्त (ठग) और राक्षस हैं। यही कारण है कि चार्वाक दर्शन घोर नास्तिकता की श्रेणी में आता है। चार्वाक की तुलना में जैन और बौद्ध सामान्य नास्तिक माने जाते हैं। जैन वेदों के स्थान पर तीर्थकरों के शब्दों ने विश्वास करते हैं। बौद्धों ने भी वेदों पर अन्धविश्वास की कटु आलोचना की है; किन्तु ये दोनों दर्शन चार्वाकों जैसे वेद निन्दक नहीं हैं। वस्तुतः ये दोनों दर्शन आस्तिक दर्शनों के अत्यधिक निकट हैं।

(5.2) इकाई के शीर्षक का अर्थ :-

नास्ति परलोकः तत्साक्षीश्वरो वा इति मतिरस्य—ठक् अर्थात् अनीश्वरवादी, अविश्वासी जो वेदों की प्रामाणिकता, पुनर्जन्म और परमात्मा या विश्व के विधाता के अस्तित्व में विश्वास नहीं रखता है, उसे नास्तिक कहते हैं। ऐसे नास्तिकों के द्वारा प्रतिपादित दर्शन नास्तिक दर्शन कहे जाते हैं। इस प्रकार नास्तिक शब्द के तीन अर्थ स्पष्ट होते हैं —

(क) जो किसी भी वस्तु की सत्ता में विश्वास न करें।

(ख) जो ईश्वर की सत्ता में विश्वास न करें।

(ग) जो वेदों की सत्ता में विश्वास न करें।

नास्तिक दर्शन अनार्य दर्शन के रूप में जाने जाते हैं। इनमें जैन, बौद्ध तथा चार्वाक दर्शन प्रमुख हैं। यहाँ इन्हीं जैन, बौद्ध तथा चार्वाक दर्शन का पाठ्यक्रम संक्षेप में प्रस्तुत है—

(5.3) पाठ्यक्रम :-

(5.3.1) जैन दर्शन :-

सत्य का अनुसंधान करने वाले जैन (अर्हत) शब्द की व्युत्पत्ति 'जिन' से मानी गई है, जिसका अर्थ होता है—विजेता अर्थात् वह व्यक्ति जिसने इच्छाओं (कामनाओं) एवं मन पर विजय प्राप्त करके हमेशा के लिए संसार के आवागमन से मुक्ति प्राप्त कर ली है। इन्हीं जिनो के उपदेशों को मानने वाले जैन तथा उनके साम्प्रदायिक सिद्धान्त जैन दर्शन के रूप में प्रख्यात हुए। ऐतिहासिक दृष्टि से नास्तिक दर्शनों में जैन सम्प्रदाय का प्रथम स्थान है। जैन दर्शन 'आर्हत दर्शन' के नाम से भी जाना जाता है। इनके सम्प्रदाय में चौबीस तीर्थकर (महापुरुष, जैनों के ईश्वर) हुए जिनमें प्रथम ऋषभदेव तथा अन्तिम महावीर (वर्धमान) हुए। इनके कुछ तीर्थकरों के नाम ऋग्वेद में भी मिलते हैं, जिससे इनकी प्राचीनता प्रमाणित होती है। संक्षेप में इनके सिद्धान्त इस प्रकार हैं—

द्रव्य :- द्रव्य वह है, जिसमें गुण और पर्याय हो—'गुणपर्यायवद् द्रव्यम्।' गुण स्वरूप धर्म है और पर्याय आगन्तुक धर्म। इन धर्मों के दो भेद हैं— (क) भावात्मक (ख) अभावात्मक। स्वरूपधर्मों के बिना द्रव्य का अस्तित्व सम्भव नहीं। यह जगत् द्रव्यों से बना है। द्रव्य सत् हैं; क्योंकि उसमें सत्ता के तीनों लक्षण उत्पत्ति, व्यय (क्षय) और नित्यता मौजूद है। द्रव्य के दो रूप हैं— अस्तिकाय और अनस्तिकाय। अनस्तिकाय के अमूर्त होने से इसमें केवल काल की ही गणना होती है, जबकि अस्तिकाय में दो प्रकार के द्रव्य हैं— (क) जीव तथा (ख) अजीव। चेतन द्रव्य जीव अथवा आत्मा है। सांसारिक दशा में यही आत्मा जीव कहलाती है। जीव में प्राण तथा शारीरिक, मानसिक और ऐन्द्रिक शक्ति है, जिसमें कार्य के

प्रभाव से औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदायिक तथा पारिमाणिक—ये पाँच भाव प्राण से संयुक्त, रहते हैं। द्रव्य के रूप बदलने पर यही 'भावदशापन्न प्राण' पुद्गल (Matter) कहलाता है। इस प्रकार पुद्गल युक्त जीव ही संसारी कहा जाता है।

जैन दर्शनानुसार जीव नित्य एवं स्वयंप्रकाश है। 'अविद्या' के कारण वह बन्धन में बँधता है। इस प्रकार जीव के दो भेद हैं—बद्ध एवं मुक्त। बद्ध के पुनः दो भेद स्थावर और जंगम हैं, जिनमें जंगम—पृथ्वीकाय, अपकाय, वायुकाय तथा तेजकाय वाले हैं। अस्तिकाय द्रव्य का दूसरा तत्त्व 'अजीव' है, जिसके पाँच भेद हैं—धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल और काल।

कर्म का सिद्धान्त :- जैनियों के अनुसार कर्म पौद्गलिक (शारीरिक) अर्थात् धूल के कण के समान जड़ पदार्थ हैं। ये इच्छा, द्वेष और भ्रम से प्रेरित मन, शरीर और वाक् की क्रियाओं तथा वासनाओं से पैदा होते हैं। कर्म के मुख्य रूप से दो भेद हैं—

1. घातीय अथवा नाशवान् तथा
2. अघातीय जो कि नाशवान् नहीं हैं।

इनमें से घातीय कर्म के चार भेद हैं— (अ) ज्ञानावरणीय, (ब) दर्शनावरणीय (स) अन्तराय (प्रगति में बाधक) और (द) मोहनीय। इसी प्रकार अघातीय कर्म के भी चार भेद हैं— (अ) आयुष कर्म (ब) नाम कर्म (स) गोत्र कर्म और (द) वेदनीय कर्म। ये ही आठ तरह के कर्म बन्धन का कारण हैं।

बन्ध :- जीव के बन्धन का मूल कारण दूषित मनोभाव हैं। कषायों के कारण जीव के पुद्गल (शरीर) से आक्रान्त हो जाने को बन्ध तत्त्व कहा गया है। जीव के पुद्गलों में प्रवेश से पहले 'भावस्रव' पैदा होता है, जो कि जीव का वास्तविक स्वरूप नष्ट कर देता है और जीव बन्धन में फँस जाता है।

मोक्ष :- जीव का पुद्गल से मुक्त हो जाना ही 'मोक्ष' है। यह मोक्ष दो प्रकार का है— भावमोक्ष और द्रव्यमोक्ष। भावमोक्ष ही जीवमुक्ति है। यह वास्तविक मोक्ष से पहले की अवस्था है। इसमें चारों घातीय कर्मों का नाश हो जाता है। इसके बाद ही अघातीय कर्मों का नाश होने पर द्रव्य—मोक्ष भी प्राप्त हो जाता है। जैनियों के अनुसार मोक्ष प्राप्त करने के लिए बारह अनुप्रेक्षाओं से युक्त रहना आवश्यक है, जो इस प्रकार हैं— अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभत्व तथा धर्मानुप्रेक्षा।

जैनों की ज्ञानमीमांसा तत्त्वमीमांसा के समान ही स्वतन्त्र सत्ता रखती है। ज्ञानमीमांसा के प्रामाणिक स्रोत प्रमाणों की संख्या जैन दर्शन में तीन है— प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शब्द। जैन दार्शनिक 'स्याद्वाद' अर्थात् 'सप्तभंगीनय' का प्रतिपादन करते हैं—

'नयनामके तिष्ठानां प्रवृत्तेः श्रुतवर्त्मनि ।'

सम्पूर्णार्थविनिश्चायि स्याद्वाद श्रुतमुच्यते ।।' न्यायावतार, 30

इसके अनुसार हमारा ज्ञान पूर्ण सत्य नहीं कहा जा सकता। ज्ञान सदैव आपेक्षित सत्य ही होता है।

(5.3.2) बौद्ध दर्शन :-

बौद्ध दर्शन अपने प्रारम्भिक काल में जैन दर्शन की ही भाँति आचारशास्त्र के रूप में ही था। बाद में बुद्ध के उपदेशों के आधार पर विभिन्न विद्वानों ने इसे आध्यात्मिक रूप देकर एक सशक्त दार्शनिकशास्त्र बनाया। बुद्ध द्वारा सर्वप्रथम सारनाथ में दिये गये उपदेशों में से चार आर्यसत्य इस प्रकार हैं :- 'दुःखसमुदायनिरोधमार्गाश्चत्वार्यार्यबुद्धस्याभिमतानि तत्त्वानि।' अर्थात् -

1. दुःख
2. दुःखसमुदाय
3. दुःखनिरोध
4. दुःखनिरोधमार्ग

बुद्धाभिमत इन चारों तत्त्वों में से 2. दुःखसमुदाय के अन्तर्गत द्वादशनिदान (जरामरण, जाति, भव, उपादान, तृष्णा, वेदना, स्पर्श, षडायतन, नामरूप, विज्ञान, संस्कार तथा अविद्या) तथा 4. दुःखनिरोध के उपायों में अष्टांगमार्ग (सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वाणी, सम्यक् कर्म, सम्यक् आजीव, सम्यक् प्रयत्न, सम्यक् स्मृति तथा सम्यक् समाधि) का विशेष महत्व है। इसके अतिरिक्त पंचशील (अहिंसा, अस्तेय, सत्यभाषण, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह) तथा द्वादश आयतन (पंच ज्ञानेन्द्रियाँ, पंच कर्मेन्द्रियाँ, मन और बुद्धि), जिनसे सम्यक् कर्म करना चाहिए— भी आचार की दृष्टि से महनीय हैं। वस्तुतः चार आर्य सत्यों का विशद विवेचन ही बौद्ध दर्शन है।

बौद्ध दर्शन का प्रारम्भिक श्रेणी विभाग सत्ता के महत्त्वपूर्ण प्रश्न को लेकर किया गया, जो कि चार प्रस्थान के रूप में इस प्रकार जाना जाता है—

'मुख्यो माध्यमिको विवर्तमखिलं शून्यस्य मेने जगत्,
योगाचारमते तु सन्ति मतयस्तासां विवर्तोऽखिलः।
अर्थोऽस्ति क्षणिकस्त्वसावनुमितो बुद्धयेति सौत्रान्तिकः,
प्रत्यक्षं क्षणभंगुरं च सकलं वैभाषिको भाषते।।'

1. वैभाषिक सम्प्रदाय (बाह्यार्थ प्रत्यक्षवाद) :- ये अर्थ को ज्ञान से युक्त अर्थात् प्रत्यक्षगम्य मानते हैं।
2. सौत्रान्तिक सम्प्रदाय (बाह्यार्थानुमेयवाद) :- ये बाह्यार्थ को अनुमेय मानते हैं। यद्यपि बाह्यजगत की सत्ता दोनों स्वीकार करते हैं, किन्तु दृष्टि के भेद से एक के लिए चित्त निरपेक्ष तथा दूसरे के लिए चित्त सापेक्ष अर्थात् अनुमेय सत्ता है। सौत्रान्तिक मत में सत्ता की स्थिति बाह्य से अन्तर्मुखी है।
3. योगाचार सम्प्रदाय (विज्ञानवाद) :- इनके अनुसार बुद्धि ही आकार के साथ है अर्थात् बुद्धि में ही बाह्यार्थ चले आते हैं। चित्त अर्थात् आलयविज्ञान में अनन्त विज्ञानों का उदय होता रहता है। क्षणभंगिनी चित्त सन्तति की सत्ता से सभी वस्तुओं का ज्ञान होता है। वस्तुतः ये बाह्य सत्ता का सर्वथा निराकरण करते हैं। इनके यहाँ माध्यमिक मत के समान सत्ता दो प्रकार की मानी गई है—
अ) पारमार्थिक ब) व्यावहारिक। व्यावहारिक में पुनश्च परिकल्पित और परतन्त्र दो रूप ग्राह्य हैं।

यहाँ चित्त की ही प्रवृत्ति तथा निवृत्ति (निरोध, मुक्ति) होती है। सभी वस्तुएँ चित्त का ही विकल्प हैं। इसे ही आलयविज्ञान कहते हैं। यह आलयविज्ञान क्षणिक विज्ञानों की सन्तति मात्र है।

4. माध्यमिक सम्प्रदाय (शून्यवाद) :- यहाँ बाह्य एवम् अन्तः दोनों सत्ताओं का शून्य में विलयन हुआ है, जो कि अनिर्वचनीय है। ये केवल ज्ञान को ही अपने में स्थित मानते हैं और दो प्रकार का सत्य स्वीकार करते हैं—

अ) सांवृतिक सत्य :- अविद्याजनित व्यावहारिक सत्ता।

ब) पारमार्थिक सत्य :- प्रज्ञाजनित सत्य

बौद्धों के इन चारों सम्प्रदायों में से प्रथम दो का सम्बन्ध हीनयान से तथा अन्तिम दोनों का सम्बन्ध महायान से है। हीनयानी सम्प्रदाय यथार्थवादी तथा सर्वास्तिवादी है, जबकि महायानी सम्प्रदायों में से योगाचारी विचार को ही परम तत्त्व तथा परम रूप में स्वीकार करते हैं। माध्यमिक दर्शन एक निषेधात्मक एवं विवेचनात्मक पद्धति है। यही कारण है कि माध्यमिक शून्यवाद को 'सर्ववैनाशिकवाद' के नाम से भी जाना जाता है। हीनयान तथा महायान की अन्यान्य अनेक शाखाएँ हैं, जो कि प्रख्यात नहीं हैं।

क्षणिकवाद :- बौद्धों के अनुसार वस्तु का निरन्तर परिवर्तन होता रहता है और कोई भी पदार्थ एक क्षण से अधिक स्थायी नहीं रहता है। कोई भी मनुष्य किसी भी दो क्षणों में एक सा नहीं रह सकता, इसीलिए आत्मा भी क्षणिक है और यह सिद्धान्त क्षणिकवाद। इसके लिए बौद्ध मतानुयायी प्रायः दीपशिखा की उपमा देते हैं। जब तक दीपक जलता है, तब तक उसकी लौ एक ही शिखा प्रतीत होती है, जबकि यह शिखा अनेकों शिखाओं की एक श्रृंखला है। एक बूँद से उत्पन्न शिखा दूसरी बूँद से उत्पन्न शिखा से भिन्न है; किन्तु शिखाओं के निरन्तर प्रवाह से एकता का भान होता है। इसी प्रकार सांसारिक पदार्थ क्षणिक है, किन्तु उनमें एकता की प्रतीति होती है। इस प्रकार यह सिद्धान्त 'नित्यवाद' और 'अभाववाद' के बीच का मध्यम मार्ग है।

प्रतीत्यसमुत्पाद :- 'प्रतीत्यसमुत्पाद' से तात्पर्य एक वस्तु के प्राप्त होने पर दूसरी वस्तु की उत्पत्ति अथवा एक कारण के आधार पर एक कार्य की उत्पत्ति से है। प्रतीत्यसमुत्पाद सापेक्ष भी है और निरपेक्ष भी। सापेक्ष दृष्टि से वह संसार है और निरपेक्ष दृष्टि से निर्वाण। यह क्षणिकवाद की भाँति शाश्वतवाद और उच्छेदवाद के मध्य का मार्ग है; इसीलिए इसे मध्यममार्ग कहा जाता है और इसको मानने वाले माध्यमिक।

(5.3.3) चार्वाक दर्शन :-

प्रारम्भिक चार्वाक दर्शन लोकायत के नाम से जाना जाता था। लोकायत (लोक+आयत) से तात्पर्य लोक में व्याप्त अथवा विश्वव्यापकता से है। यही लोकायत आगे चलकर चार्वाक कहलाए। इसके प्रवर्तक बृहस्पति के शिष्य चार्वाक को माना जाता है। अन्य कुछ लोग चार्वाक को 'चारुवाक्' अर्थात् 'सुन्दर वाणी' अर्थ में प्रयुक्त करते हैं। अन्य कुछ चार्वाक शब्द 'चर्व' धातु से निष्पन्न होने के कारण चर्वण करने तथा खाने, पीने, मौज करने का उपदेश करने के कारण इन्हें चार्वाक कहते हैं। इस दर्शन

का तीसरा नाम 'बार्हस्पत्य' दर्शन भी है, क्योंकि ऐसा कहा जाता है कि बृहस्पति ने राक्षसों के नाश के लिए इस परम अधार्मिक वृत्त का उपदेश किया था। कुछ भी हो, यह दर्शन अत्यन्त प्राचीन है और बौद्धमत के पूर्व भी पाया जाता है।

'प्रबोध चन्द्रोदय' नामक दार्शनिक नाटक में लोकायत के सम्बन्ध में एक पात्र कहता है कि 'लोकायत' ही एक शाश्वत शास्त्र है। इसमें प्रत्यक्ष ही एकमात्र प्रमाण है। तत्त्व चार प्रकार के हैं—पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु। धन और भोग ही मानव जीवन के लक्ष्य हैं। भौतिक तत्त्व चिन्तन कर सकते हैं। इनके अनुसार परलोक नाम की कोई वस्तु नहीं है। मृत्यु ही मुक्ति है। इसी लोक की सत्ता मानने के कारण ही ये लोकायत कहलाए। चार्वाकों में भी कुछ धूर्त चार्वाक और कुछ सुशिक्षित चार्वाकों के भेद से दो वर्ग में पाये जाते हैं, जो अति स्थूल से सूक्ष्म चिन्तन की दिशा का संकेत करते हैं। यद्यपि इस मत का कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं मिलता है; फिर भी 'बृहस्पति सूत्र' ग्रन्थ के आधार पर चार्वाक दर्शन को कुछ इस प्रकार देखा जा सकता है—

1. पृथ्वी जल, तेज और वायु ये ही चार तत्त्व हैं—'पृथिव्यापस्तेजो वायुरिति तत्त्वानि ।'
2. इन्ही भूतों के संघटन से शरीर, इन्द्रिय तथा चैतन्य की उत्पत्ति होती है। यथा—अन्न के संघटन से शक्ति उत्पन्न होती है।
3. आत्मा चैतन्य युक्त यही स्थूल शरीर है।
4. जीव जल के बुलबुले के समान है।
5. परलोक की कोई सत्ता नहीं।
6. मृत्यु ही मोक्ष है।
7. प्रत्यक्ष ही एकमात्र प्रमाण है।
8. अर्थ और काम मात्र दो ही पुरुषार्थ हैं।
9. वार्ता और दण्डनीति मात्र ये दो ही विद्याएँ हैं अर्थात् राजनीति ही एकमात्र विद्या है, जिसमें कृषि विज्ञान समाहित है।
10. तीनों वेद बुद्धि और पुरुषार्थ से रहित लोगों की जीविका के साधन हैं।

इस प्रकार चार्वाक धर्म को एक प्रकार का भ्रम और सुख को ही सत्य मानकर इच्छाओं की तृप्ति के लिए भौतिक वस्तुओं का भोग ही जीवन का परम लक्ष्य मानते हैं। भौतिक सुखों को छोड़कर तपस्या करना व्यर्थ है। शारीरिक सुख एवं स्वास्थ्य लाभ हेतु यदि ऋण करके भी घृतपान करना पड़े, तो निःसंकोच करना चाहिए, क्योंकि मृत्यु ही जीवन का अन्त है और पुर्नजन्म कोरी कल्पना है, सत्य नहीं है। अतः—

'यावज्जीवेत् सुखं जीवेत्, ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।

भस्मीभूतस्य देहस्य, पुनरागमनं कुतः।।'

चार्वाक कर्मकाण्ड का घोर विरोध करते हैं। उनके अनुसार बलि देने से यदि पशु स्वर्ग जाता है, तो लोग अपने बाप या दादा की बलि क्यों नहीं चढ़ाते, ताकि वे सीधे स्वर्ग जा सकें। इसी प्रकार

पिण्डदान के लिए भी उनका कहना है कि यदि पूर्वजों को यहीं से तृप्ति मिलती है, तो दूर देश बैठे अपने सगे सम्बन्धी की उदरपूर्ति हम क्यों नहीं कर देते। चार्वाक इस प्रकार के अनेक रूढ़िगत विचारों का अपने प्रबल तर्कों से खण्डन करते हैं।

चार्वाकों का अत्यन्त भौतिकवादी होना, केवल प्रत्यक्ष को प्रमाण मानना, कर्तव्यों का निषेध करना तथा आत्मा की सत्ता का निषेध करते हुए अनीश्वरवाद का पोषक होना आदि कुछ ऐसे विचारों का प्रतिपादन करना है, जो समाज में स्वार्थपरायणता को जन्म देते हैं, और स्वयं चार्वाकों को कटु आलोचना का भागी बनाते हैं। उनके अत्यधिक भोगवादी दृष्टिकोण से धर्म का लोप होता है। अतिशीघ्र सुखवाद स्वार्थपूर्ण बनाता है। केवल प्रत्यक्ष मानकर तो वे अपने पिता को भी नहीं जान सकते, क्योंकि पिता को भी जानने के लिए शब्द प्रमाण मानना पड़ेगा। जीवन में अनुमान की आवश्यकता प्रत्यक्ष से कम नहीं है। बिना अनुमान के जीवन दूभर हो जायेगा। आत्मा की सत्ता तथा ईश्वरवाद का खण्डन करके चार्वाक इस वैचित्र्यपूर्ण सृष्टि का सम्यक् विवेचन प्रस्तुत नहीं कर सके। कर्तव्यों से मुँह मोड़कर केवल सुख भोग ने उन्हें धर्म से च्युत करके स्वार्थी बना दिया, जो सामाजिक विकृति को जन्म देता है। हाँ, इतना अवश्य स्वीकार करना होगा कि चार्वाक दार्शनिक आँख मूँदकर किसी को भी सत्य नहीं मान लेते और इस प्रकार वे सच्चे अर्थों में विश्लेषणात्मक पद्धति के जन्मदाता हैं।

(5.4) सारांश :-

जैन, बौद्ध एवं चार्वाक दर्शन की सार रूप में कुछ इस प्रकार देखा जा सकता है—

(5.4.1) जैन दर्शन :-

जैन दार्शनिक बौद्धों की भाँति वेदों की प्रामाणिकता का निराकरण करने से नास्तिक हैं। इतना ही नहीं, वे ईश्वर की सत्ता भी नहीं स्वीकार करते। यद्यपि ईश्वरत्व का अपलाप वे नहीं कर पाते हैं। अपने तीर्थकरों को ईश्वर का रूप देकर लोक में आचार की स्थापना के लिए ईश्वरत्व की कल्पना पर ही बल देते हैं। हाँ, ईश्वरत्व की पदवी को ग्रहण करने वाली किसी अतीन्द्रिय, विश्व से परे सत्ता को वे स्वीकार नहीं करते।

आत्मा के सम्बन्ध में जैन दार्शनिक बहुत्ववाद के पोषक हैं तथा साथ में ही आत्मा और जीव में कोई अन्तर नहीं करते हैं। आत्मा के अस्तित्व के प्रतिपादनार्थ वे चार्वाकों के अनात्मवाद का प्रबल तर्कों से खण्डन भी करते हैं। जैनों के अनुसार जड़तत्त्व उपादान मात्र है और निमित्तकारण आत्मा के बिना चैतन्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती।

जैन दर्शन में जीव का पुद्गल से आक्रान्त हो जाना ही बन्धन तथा पुद्गल से मुक्त हो जाना ही मोक्ष है। बन्धन का मूल कारण दूषित मनोभाव हैं। यहाँ बन्धन तथा मोक्ष दोनों के ही दो-दो भेद हैं। भावाबन्धन तथा द्रव्याबन्धन और भावमोक्ष तथा द्रव्यमोक्ष। संवर और निर्जरा मोक्ष के साधन हैं। आस्रव तथा बन्धन को जो रोकता है, वही 'संवर तत्त्व' है। यह संवर भी दो प्रकार का है—भाव संवर और द्रव्य संवर। जीव के राग-द्वेष आदि विकारों का निरोध 'भाव संवर' है तथा इसके बाद कर्म पुद्गलों का प्रवेश रुकना 'द्रव्यसंवर' कहलाता है। कर्म प्रवेश रोकने के लिए जैन पाँच समितियों ईर्या, भाषा, एषणा,

आदाननिक्षेपणा और प्रतिस्थापना उपाय स्वरूप बतलाते हैं। समिति में सत्क्रिया का प्रवर्तन मुख्य है। ठीक इसी प्रकार गुप्ति द्वारा असत् क्रिया का निरोध किया जाता है। ये गुप्तियाँ तीन हैं—कायगुप्ति, वाग् गुप्ति और मनोगुप्ति।

इसके अतिरिक्त कर्म पुद्गलों को रोकने के लिए पंच महाव्रत (अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह), दस धर्म (क्षमा, मृदुता, सरलता, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, ब्रह्मचर्य और उदासीनता), बारह अनुप्रेक्षाएँ (अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभत्व और धर्मानुप्रेक्षा) बाईस परीषह तथा पाँच चरित्र (सामयिक चरित्र, दोषस्थापना, परिहार विशुद्धि, सूक्ष्म सम्पराय और यथाख्यात) का पालन अत्यावश्यक है।

बन्धन के बीज कर्म पुद्गलों की नाश—प्रक्रिया 'निर्जरा' कहलाती है। ये ऐसे पुद्गल होते हैं, जो आत्मा में पहले से संलिप्त होते हैं। उपर्युक्त 62 प्रकार के उपायों से आत्मा में कर्म पुद्गलों का प्रवेश रोका जा सकता है; किन्तु मुक्ति के लिए पहले के कर्म पुद्गलों का नाश भी आवश्यक है, जिसके लिए 'निर्जरा' की आवश्यकता होती है। यह निर्जरा भी 'भावनिर्जरा' और 'द्रव्य निर्जरा' भेद से दो प्रकार की है। पुनश्च इनके अवान्तर भेद भी जैन दर्शन में विस्तार से बताए गए हैं। इस प्रकार यद्यपि संवर के द्वारा नवीन पुद्गलों का आश्रय निरूद्ध हो जाता है तथा निर्जरा के द्वारा पहले से उपस्थित कर्मों का नाश हो जाता है; किन्तु मोक्ष का मार्ग 'त्रिरत्न' अत्यावश्यक हैं। ये तीन रत्न हैं— सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चरित्र। संक्षेप में यही जैनियों की तत्त्वमीमांसा है।

(5.4.2) बौद्ध दर्शन :-

बौद्धमतानुयायी द्वादश आयतनों की पूजा को मोक्ष दायक मानते हैं। ये द्वादश आयतन—पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ (श्रोत्र, त्वक् चक्षु, जिह्वा, घ्राण) पाँच कर्मेन्द्रियाँ (वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ मन और बुद्धि) हैं। मनुष्य को इनसे सम्यक् कर्म करना चाहिए। श्रीमन्माधवाचार्य प्रणीत 'सर्वदर्शनसंग्रह' के अन्तर्गत 'विवेक विलास' में वर्णित बौद्धमत का सार इस प्रकार है—

1. बौद्धों के देवता सुगत (बुद्ध) हैं।
2. संसार क्षणभंगुर है।
3. चार तत्त्व आर्यसत्त्यों के नाम से जाने जाते हैं, जो क्रमशः इस प्रकार हैं— 1. दुःख 2. दुःख समुदाय 3. निरोध 4. मार्ग। दुःख से तात्पर्य सांसारिक प्राणी के पाँच स्कन्धों (विज्ञान, वेदना, संज्ञा, संस्कार और रूप) से है। द्वादश आयतनों के द्वारा रागादि का समूह मनुष्यों के हृदय में उत्पन्न होता है, जो कि आत्मा के अपने स्वभाव के नाम से जाना जाता है, वही समुदाय है। सभी संस्कार क्षणिक हैं, अतः जो स्थिर विचार (वासना) है, वही मार्ग है और वही मोक्ष है।
4. बौद्धों को केवल दो ही प्रमाण मान्य हैं— प्रत्यक्ष और अनुमान।
5. बौद्धों के चार प्रस्थान (सम्प्रदाय) विख्यात हैं, जो वैभाषिक, सौत्रान्तिक, योगाचार और माध्यमिक के नाम से जाने जाते हैं।

6. चारों प्रकार के बौद्धों के लिए मुक्ति, रागादि ज्ञान की परम्परा रूपी वासना के नष्ट हो जाने से होती है।
7. चारों प्रस्थान हीनयान और महायान सम्प्रदाय के रूप में दो भागों में बँटे हैं, जिनमें से हीनयान (वैभाषिक, सौत्रान्तिक) अपने ग्रन्थों में धार्मिक उपदेश, निर्वाण, काल तथा कर्मवाद सम्बन्धी उपदेशों को कम स्थान देता है, जबकि महायान (योगाचार, माध्यमिक) इनकी अपने ग्रन्थों में विशद विवेचना करता है।
8. हीनयानियों का मुख्य लक्ष्य स्वयं का निर्वाण है; जबकि महायान के अनुयायी समस्त प्राणियों की मुक्ति के लिए प्रयत्नशील हैं।
9. हीनयानियों के ग्रन्थ पालि भाषा में हैं, जबकि महायानियों के ग्रन्थ संस्कृत भाषा में प्राप्त होते हैं।
10. हीनयानी अनीश्वरवादी हैं, जबकि महायान सम्प्रदाय भगवान बुद्ध में ईश्वर की कल्पना करता है।
11. हीनयानी आचरण की पवित्रता पर बल देता है और महायानी उसकी उपयोगिता पर।

(5.4.3) चार्वाक दर्शन :-

आचार्य बृहस्पति तथा विष्णु पुराण के अनुसार चार्वाक मत का सार संक्षेप में कुछ इस प्रकार देखा जा सकता है—

1. चार्वाक मतानुयायियों को स्वर्ग, अपवर्ग (मोक्ष) तथा परलोक में रहने वाली आत्मा जैसी कोई कल्पना मान्य नहीं है।
2. इसीलिए वर्णाश्रम आदि की क्रियाएँ भी फलवती नहीं हैं।
3. वेदत्रयी बुद्धि और पुरुषार्थ से रहित लोगों की आजीविका के साधन हैं।
4. यज्ञीय बलि—वेदी पर मारे गए पशु को यदि स्वर्ग प्राप्ति होती है, तो यजमान अपने पिता अथवा पितामह की बलि क्यों नहीं देते?
5. मृत व्यक्तियों को यदि श्राद्ध से तृप्ति होती है, तो बुझे दीपक की शिखा को तेल अवश्य बढ़ा देगा।
6. यदि किसी अन्य पुरुष के भोजन करने से भी किसी पुरुष की तृप्ति हो सकती है, तो विदेश यात्रा के समय खाद्य पदार्थ ले जाने की क्या आवश्यकता? पुत्रगण घर पर ही श्राद्ध कर सकते हैं।
7. इसलिए जब तक जियो, सुख से जियो। उधार (ऋण) लेकर चाहे घी पियो। भस्मीभूत हुए शरीर का ऋण— शोध के लिए पुनः आना सम्भव नहीं है।
8. यदि आत्मा शरीर से भिन्न है और शरीर त्याग के बाद दूसरे लोक में जाता है, तो बन्धुजनों के वियोग से व्याकुल होकर पुनः लौट क्यों नहीं आता?
9. मृतक के सम्पूर्ण मरणोत्तर कार्य ब्राह्मणों के बनाए जीविका के साधनमात्र हैं।
10. वेद के रचयिता भौंड, धूर्त और राक्षस हैं।
11. यज्ञीय कर्म द्वारा देवत्व प्राप्त इन्द्र को यदि शमी आदि काष्ठ—भोजन ही प्राप्त होता है, तो हरे—हरे तिनके व पत्ते खाने वाला पशु उससे कहीं अधिक अच्छा है।
12. चार्वाक पुरुषार्थ चतुष्टय (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) के दो पुरुषार्थों को ही महत्त्व देता है।

13. चार्वाक मतानुयायी केवल प्रत्यक्ष प्रमाण को ही मानते हैं।

14. अनुमान से सम्भावना की जा सकती है, निश्चय नहीं। अतः निश्चित अर्थ की प्राप्ति केवल प्रत्यक्ष से ही हो सकती है।

15. चार्वाकों के अनुसार संसार चार तत्त्वों (पृथ्वी, जल, तेज और वायु) के संयोग से उत्पन्न हुआ है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि चार्वाक प्रत्येक वस्तु को तर्क की कसौटी पर कसना चाहते हैं। इसीलिए लोकायत मत को मानने वाले शुद्ध बुद्धिवादी कहे गए। नीरस तर्कों द्वारा अपने पक्ष की पुष्टि तथा दूसरे के पक्ष का खण्डन 'वितण्डा' कहलाता है। इनका मत भी 'वितण्डावाद' कहलाया और इसको मानने वाले लोकायत वितण्डावादी। बुद्धघोष ने तो 'लोकायत' शब्द का अर्थ 'वितण्डसत्य' माना है।

(5.5) सन्दर्भित पुस्तकें:-

1. सर्वदर्शन संग्रह – प्रो० उमाशंकर शर्मा 'ऋषि'
2. भारतीय दर्शन – बलदेव उपाध्याय
3. भारतीय दर्शन – उमेश मिश्र
4. भारतीय दर्शन – डॉ० नन्दकिशोर देवराज
5. भारतीय दर्शन – विक्रमादित्य सिंह
6. भारतीय दर्शन – वाचस्पति गैरोला
7. भारतीय दर्शन की रूपरेखा – हिरियन्ना

(5.6) बोध प्रश्न :-

(5.6.1) बोध प्रश्न (दीर्घ उत्तरीय)

1. प्रश्न :- जैन दर्शन के स्याद्वाद के सिद्धान्त की विवेचना कीजिए।

उत्तर :- 'स्यात्' शब्द सापेक्षता और अनेकान्तता का द्योतक है। यह अनिश्चय को व्यक्त करता है। जैन मतानुयायी यह मानते हैं कि किसी भी वस्तु को देखने के अनेकों दृष्टिकोण हो सकते हैं, जो परस्पर विरोधी होते हुए भी अपने-अपने प्रसंगों में सत्य हो सकते हैं। इसीलिए जैन दार्शनिक इस बात का आग्रह करते हैं कि प्रत्येक नय के आरम्भ में 'स्यात्' शब्द का प्रयोग किया जाना चाहिए। 'स्यात्' के प्रयोग से इस बात का भ्रम निवृत्त हो जाता है कि कोई वस्तु या विचार नित्य एवं निरपेक्ष है और यह दृढ़ निश्चय हो जाता है कि किसी भी वस्तु का अस्तित्व काल विशेष, स्थान विशेष एवं गुण विशेष पर आधारित है। इस प्रकार प्रत्येक परामर्श की सत्यता उस स्थिति विशेष पर आधारित होती है, जिसमें उसकी कल्पना की गई है। यही स्याद्वाद है, जो यह प्रतिपादन करता है कि हमारा ज्ञान पूर्ण सत्य नहीं कहा जा सकता। वह पदार्थों की अपेक्षा से होता है और इसीलिए हमारा ज्ञान अपेक्षित सत्य है।

स्याद्वाद वस्तुतः पदार्थों को जानने की एक दृष्टिमात्र है। यह स्वयं अन्तिम सत्य नहीं है। हाँ, यह अन्तिम सत्य तक पहुँचाने में सहायक अवश्य है। इसीलिए जैन दार्शनिक स्याद्वाद को व्यावहारिक सत्य मानते हैं और यही उनके दर्शन का वैशिष्ट्य है। अनन्त धर्मों वाली प्रत्येक वस्तु के सम्बन्ध में अनेकों दृष्टिकोण हो सकते हैं, जिनको जैन दार्शनिकों ने सात प्रकार की सम्भावनाओं के अन्तर्गत

समाहित करने का प्रयास किया है। उनकी ये सप्त सम्भावनाएँ 'सप्तभंगीनय' के नाम से जानी जाती हैं। जैनो के न्यायशास्त्र में इस सुप्रसिद्ध 'सप्तभंगीनय' अथवा 'अनेकान्तवाद' अथवा 'स्याद्वाद' की प्रतिष्ठा इस प्रकार है—

‘अत्र सर्वत्र सप्त भङ्गिनयाख्यं न्यायमवतारयन्ति जैनाः ।

स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, स्यादस्ति च नास्ति च, स्यादवक्तव्यः, स्यादस्ति चावक्तव्यः, स्यान्नास्ति चावक्तव्यः, स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्यः इति ।’

1. **स्यादस्ति (स्यात् अस्ति द्रव्यम्) :-** किसी एक दृष्टि से वस्तु की सत्ता हो सकती है। यथा— घट रूप में एक विशेष देश एवं काल में घट के अस्तित्व की सम्भावना है, किन्तु पट रूप में तो उसके अभाव की ही उपलब्धि होगी। अतः इस भंग में द्रव्यार्थिक नय की प्रधानता तथा पर्यायार्थिक नय की गौणता होती है।
2. **स्यान्नास्ति (स्यात् नास्ति द्रव्यम्) :-** उसी वस्तु की किसी दूसरी दृष्टि से उसी काल में सत्ता नहीं भी हो सकती है। यथा—घट की सत्ता घट की दृष्टि से है, किन्तु पट की दृष्टि से उसकी सत्ता का अभाव है। इस भंग में पर्यायार्थिक नय की प्रमुखता तथा द्रव्यार्थिक नय की गौणता होती है।
3. **स्यादस्ति च नास्ति च (स्यात् अस्ति च नास्ति च द्रव्यम्) :-** तृतीय दृष्टि से उसी वस्तु की सत्ता हो भी सकती है और नहीं भी हो सकती है। यथा—घट किसी देश एवं काल में एक विशेष रूप में हो सकता है; किन्तु पट रूप में नहीं। एक ही वस्तु में अस्तित्व एवं अभाव विषयक ये दोनों परामर्श असम्भव नहीं है। अतः इस भंग (रीति, भंगिमा) में द्रव्यार्थिक एवं पर्यायार्थिक दोनों नयों की प्रधानता है।
4. **स्यादवक्तव्यः (स्यात् अवक्तव्यं द्रव्यम्):-** चौथी दृष्टि से वही वस्तु अवक्तव्य है; क्योंकि एक ही समय में उसकी सत्ता का अस्तित्व और अदर्शन दोनों कहने से उसके स्वरूप का निर्वचन ठीक—ठीक नहीं हो सकता।
5. **स्यादस्ति चावक्तव्यः (स्यात् अस्ति च अवक्तव्यं च द्रव्यम्) :-** पाँचवी दृष्टि से वही वस्तु एक ही समय में हो सकती है और अवक्तव्य भी रह सकती है।
6. **स्यान्नास्ति चावक्तव्यः (स्यात् नास्ति च अवक्तव्यं च द्रव्यम्) :-** छठी दृष्टि से किसी वस्तु का एक समय में अभाव भी हो सकता है और वह अवक्तव्य भी हो सकती है।
7. **स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्यः (स्यात् अस्ति च नास्ति च अवक्तव्यं च द्रव्यम्) :-** यह सम्भावना तभी होती है, जब एक ही वस्तु का एक दृष्टि से अस्तित्व हो, दूसरी दृष्टि से अभाव हो तथा तीसरी दृष्टि से निर्वचन की असम्भावना अर्थात् अवक्तव्यता हो।

ज्ञान सर्वतोभावेन सत्य नहीं है और न ही स्वतन्त्र। सभी ज्ञान अपने दृष्टिकोण अथवा पहलू के अधीन हैं। अतएव निर्णय के पूर्व सापेक्षतासूचक कोई शब्द लगाना परमावश्यक है। जैन न्यायशास्त्र के ये ही सात परामर्श वाक्य सप्तभङ्गी न्याय (नय) के नाम से जाने जाते हैं। भङ्ग से यहाँ तात्पर्य

समुच्चय अथवा रीति (भंगिमा) से है। सांख्य आदि सात प्रकार के एकान्तवाद प्रतिपादन का भंग (मेल) करके इस अनेकान्तवाद की स्थापना हुई है।

2. प्रश्न :- बौद्ध दर्शन के क्षणिकवाद के सिद्धान्त की आलोचनात्मक समीक्षा कीजिए।

उत्तर :- महात्मा बुद्ध के उपदेशों का सार यह है कि संसार अनित्य है, नाशवान् है, परिवर्तनशील है। परिवर्तन ही विश्वसत्ता का स्वाभाविक गुण है। संसार की कोई भी वस्तु पूर्णरूपेण नित्य अथवा पूर्णरूपेण अनित्य नहीं होती है। वास्तविकता यह है कि वस्तु का निरन्तर परिवर्तन होता रहता है और कोई भी पदार्थ एक क्षण से अधिक स्थायी नहीं रहता है। एक वस्तु से दूसरी का सृजन होता है और उत्पत्तिक्षण में वह तीसरी को जन्म देकर नष्ट हो जाती है। वस्तुओं की उत्पत्ति एवं विनाश की यह कार्य-कारणबद्ध परम्परा निरन्तर चलती रहती है—यही संसार है। संसार की प्रत्येक वस्तु की उत्पत्ति किसी न किसी कारण से होती है और वह स्वतः किसी का कारण बनकर किसी कार्य को उत्पन्न करती है। अतः संसार के समस्त पदार्थ आदि और अन्त वाले हैं, स्वभाव से ही अनित्य हैं।

यह कार्य-कारण अथवा संसार की प्रक्रिया को समझाने के लिए बौद्धमतानुयायी दीपशिखा का उदाहरण देते हैं। जिस प्रकार दीपक जब तक जलता है, तब तक उसकी लौ एक ही दीपशिखा के रूप में प्रतीत होती है; जबकि वास्तव में यह शिखा अनेकों शिखाओं की एक श्रृंखला है। बौद्धों के अनुसार एक बूँद तेल के जलने से जो शिखा उत्पन्न होती है। वह दूसरी बूँद के जलने से उत्पन्न शिखा से सर्वथा भिन्न है। शिखाओं के निरन्तर प्रवाह के कारण उसमें एकता की प्रतीति होती है। इसी प्रकार समस्त सांसारिक पदार्थ क्षणिक होते हुए भी अज्ञानवश एकता की प्रतीति कराते हैं। पदार्थों के इसी क्षणिकत्व को स्वीकार करने से बौद्धों का यह सिद्धान्त 'क्षणिकवाद' कहलाता है और यह सिद्धान्त भी प्रतीत्यसमुत्पाद के समान 'नित्यवाद' और 'अभाववाद' के बीच का मध्यम मार्ग है।

क्षणिकवाद की पुष्टि के लिए बौद्धों का कहना है—

'यत्सत्तत्क्षणिकं यथा जलधरः सन्तश्च भावा अमी

सत्ता शक्तिरिहार्थकर्मणि मितेः सिद्धेषु सिद्धा न सा।

नाप्येकैव विधान्यथा परकृतेनापि क्रियादिर्भवेद्,

द्वेधापि क्षणभङ्गसङ्गतिरतः साध्ये च विश्राम्यति।।'

अपने मत के समर्थन में वे अर्थ-क्रियाकारित्व का प्रबल तर्क प्रस्तुत करते हैं, जो कि किसी कार्य को उत्पन्न करने की शक्ति पर आधारित है। जो वस्तु कार्य उत्पन्न कर सकती है, उसकी ही सत्ता है, जो कार्य उत्पन्न नहीं कर सकती, उस वस्तु की कोई सत्ता नहीं है। सांसारिक पदार्थ क्षणिक हैं। कोई भी किसी भी दो क्षणों में एक समान नहीं हो सकता। इसीलिए आत्मा भी क्षणिक है।

आलोचनात्मक समीक्षा :- क्षणिकवाद की सबसे तीखी आलोचना शंकराचार्य जी ने प्रस्तुत की। उनके अनुसार 1. आत्मा यदि क्षणिक होगी तो उसका ज्ञान असम्भव होगा। सतत् परिवर्तनशील वृत्ति को दूसरी वृत्ति का ज्ञान कैसे हो सकता है? परिवर्तित वस्तु का ज्ञान प्राप्त करने के लिए ज्ञाता का अपरिवर्तित होना अत्यन्त आवश्यक है, तभी वह भिन्न-भिन्न इन्द्रियों की सहायता से सूक्ष्म ज्ञान बिन्दुओं को

जोड़कर किसी वस्तु का ज्ञान प्राप्त कर सकता है। यह कार्य आत्मा द्वारा ही सम्भव है, जिसे बौद्ध क्षणिक बतलाते हैं। 2. कार्य-कारण का सम्बन्ध भी क्षणिकवाद के आधार पर नहीं जाना जा सकता। यदि कारण क्षणिक होगा तो कार्य की उत्पत्ति कैसे सम्भव होगी? कार्योत्पत्ति के लिए कारण की सतत् प्रयत्नशीलता आवश्यक है।

यद्यपि ज्ञान की दृष्टि से 'क्षणिकवाद' एक भ्रामक सिद्धान्त है; किन्तु मूलतः इस सिद्धान्त की सत्यता का अपलाप कथमपि नहीं किया जा सकता कि जगत् निरन्तर परिवर्तनशील है।

3. प्रश्न :- चार्वाक मत में केवल प्रत्यक्ष ही प्रमाण है तथा अनुमान अप्रामाणिक है, स्पष्ट कीजिए।

उत्तर :- प्रमाण से तात्पर्य 'प्रमा' की उपलब्धि के साधन से है, जिससे प्रमेय की सिद्धि अथवा उपलब्धि सम्भव होती है। चार्वाक मत में अपने प्रमेय की सिद्धि के लिए केवल प्रत्यक्ष को ही प्रमाण कोटि में रखा गया है। उनकी दृष्टि में अन्य सभी प्रमाण अप्रामाणिक हैं।

प्रत्यक्ष प्रमाण :- इन्द्रिय और विषय के सम्पर्क से उत्पन्न ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण है और इसी प्रमाण से ही समस्त प्रमेयों की सिद्धि होती है। सत्य ज्ञान अथवा यथार्थ अनुभव को प्रमा (ज्ञान) कहते हैं और जो प्रमा के रूप में सिद्ध किया जाने वाला विषय है, वहीं प्रमेय है। प्रमेय की सिद्धि प्रमाणों द्वारा होती है। इस प्रकार प्रमा के साधन स्वरूप वस्तु को प्रमाण कहते हैं—'प्रमायाःकरणं प्रमाणम्।'

चार्वाक मत में हम जगत् में जिसका ज्ञान अपनी ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा करते हैं, वही सत् है, यथार्थ है। इसके अतिरिक्त सब कुछ मिथ्या है। प्रत्यक्ष से परे सभी वस्तुएँ काल्पनिक हैं, सत् नहीं। यथा—ईश्वर का प्रत्यक्ष नहीं होता, वह कल्पना का विषय है। काल्पनिक वस्तुएँ वास्तविकता से दूर होती हैं। जिन वस्तुओं को हम देख या सुन न सकें, न छू सकें, न सूँघ सकें, न स्वाद ले सकें, उनका अस्तित्व किसी भी प्रकार स्वीकार नहीं किया जा सकता। चार्वाक सुख तथा दुःख जैसी अनुभूतियों के लिए कोई प्रमाण प्रस्तुत नहीं करते, जबकि मनोवैज्ञानिक भी ऐसी अनुभूतियों को अन्तर प्रत्यक्ष के द्वारा स्वीकार करते हैं।

अनुमान की अप्रामाणिकता :-

चार्वाक मतानुयायियों का कहना है कि अनुमान द्वारा निश्चयात्मक ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती; क्योंकि अनुमान अज्ञात का ज्ञान है। अदृष्ट अज्ञात का ज्ञान संदेहास्पद ही होगा, निश्चयात्मक नहीं हो सकता। चूँकि अनुमान व्याप्ति ज्ञान पर आधारित है, इसलिए व्याप्ति ज्ञान के संदेह रहित होने पर ही निश्चयात्मक अनुमान हो सकता है। धूम और अग्नि की व्याप्ति ज्ञान का निश्चय होने पर ही धूम को देखकर अग्नि का अनुमान किया जा सकता है; किन्तु सभी प्रकार के धूम के साथ अग्नि की व्याप्ति सम्भव नहीं। यथा— जहाँ—जहाँ धूम है, वहाँ—वहाँ आग है, यह सम्भव है; किन्तु जहाँ—जहाँ आग है, वहाँ—वहाँ धूम है, यह आवश्यक नहीं। लोहे के गर्म गोले में आग है, किन्तु वहाँ धूम नहीं है। हेतु और साध्य का साहचर्य सम्बन्ध उपाधिरहित होता है और इस सम्बन्ध को व्याप्ति कहते हैं। व्याप्ति ज्ञान पर ही अनुमान की सत्यता निर्भर होती है। यथा—

1. पर्वत पर अग्नि है—प्रतिज्ञा।

2. क्योंकि पर्वत पर धुआँ है—हेतु।
3. जहाँ—जहाँ धुआँ होता है, वहाँ वहाँ अग्नि होती है—उदाहरण।
4. जैसे रसोई घर में— उपनय।
5. अतः पर्वत पर अग्नि है—निगमन।

इस अनुमान में उदाहरणगत व्याप्ति ही अनुमान की सत्यता का आधार है; किन्तु चार्वाक मतानुयायियों के अनुसार कुछ दृष्टान्तों के आधार पर सभी के लिए नियम बना देना उचित नहीं है। चार्वाक दार्शनिक समस्त घटनाओं के पूर्ण निरीक्षण के बाद ही किसी सामान्य और अनिवार्य नियम बनाने के पक्षधर हैं। अनुमान की अप्रामाणिकता को सिद्ध करने में चार्वाकों के कुछ खास तर्क हैं, जो इस प्रकार हैं—

1. व्याप्ति की स्थापना प्रत्यक्ष द्वारा कठिन है, क्योंकि व्याप्ति के लिए निरूपाधिक साहचर्य को न हम बाह्य प्रत्यक्ष द्वारा जान सकते हैं और न अन्तर प्रत्यक्ष द्वारा।
2. व्याप्ति को अनुमान द्वारा भी नहीं सिद्ध किया जा सकता; क्योंकि अनुमान की ही सिद्धि हम व्याप्ति से करते हैं। अतः अन्योन्याश्रय दोष का प्रसंग आ जायेगा।
3. शब्द प्रमाण भी व्याप्ति नहीं स्थापित कर सकता; क्योंकि वह स्वतः अनुमान पर आधारित है और अनुमान व्याप्ति पर। अतः पुनः अन्योन्याश्रय दोष।
4. हेतु की व्यापकता का ज्ञान प्रत्यक्ष की सीमा से परे है और व्यापकता की सिद्धि बिना व्याप्ति सिद्ध नहीं हो सकती, फिर अनुमान कैसे होगा?
5. समानता के आधार पर भी व्याप्ति सम्भव नहीं; क्योंकि तुलना गुण—दोष पर आधारित होती है और यह सम्भव नहीं।
6. व्याप्ति उपाधिरहित होती है। सभी दृष्टान्तों की उपाधियों को जानना सम्भव नहीं।
7. लोकव्यवहार के लिए अनुमान अच्छा साधन है; किन्तु चार्वाक मत में लोकव्यवहार के लिए निश्चय की नहीं अपितु सम्भावना की अधिक आवश्यकता है। यथा—फैले हुए पानी को देखकर अनेक सम्भावनाएँ होती हैं, जो अनुमान से सिद्ध तो होती हैं, किन्तु निश्चय की प्राप्ति नहीं हो पाती। अनुमान सदैव सच्चे नहीं निकलते।
8. सांसारिक वैचित्र्य चार्वाक मत में कार्य—कारण के नियम के कारण नहीं, अपितु स्वभाववाद के कारण है, जिसमें कभी—कभी अनुमान सच्चे भी हो जाते हैं।

चार्वाक के अतिरिक्त सभी दर्शनों ने अनुमान प्रमाण को स्वीकार किया है। अनुमान के बिना तो प्रत्यक्ष प्रमाण की भी प्रामाणिकता सिद्ध नहीं होगी; क्योंकि प्रत्यक्ष सिद्धि के लिए तर्क की आवश्यकता होगी और वह तर्क अनुमान का सहायक है। स्वयं चार्वाक अनुमान के आधार पर ही अन्य मतों का खण्डन करते हैं। अतः चार्वाकों का अनुमान को अप्रामाणिक मानना दर्शन जगत् में निन्दा एवं आलोचना का ही विषय बना है।

(5.6.2) बोध प्रश्न (लघु उत्तरीय)

1. प्रश्न :- जैन दर्शन के अनुसार 'त्रिरत्न' पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।

उत्तर:- जैन दर्शन में मोक्ष का मार्ग 'त्रिरत्न' द्वारा प्रशस्त होता है। ये तीन रत्न इस प्रकार हैं-

क) सम्यक् दर्शन :- सम्यक् दर्शन से तात्पर्य यथार्थ ज्ञान के प्रति श्रद्धा से है। श्रद्धा निरन्तर मनन करते रहने से गहरी होती जाती है। पूर्ण श्रद्धा पूर्णज्ञान होने पर ही होती है।

ख) सम्यक् ज्ञान:- उपदेशों का अंशतः ज्ञान सम्यक् दर्शन है; किन्तु सम्यक् ज्ञान में जीव और अजीव के मूल तत्त्वों का सविशेष ज्ञान होता है। यह दोषरहित एवं असन्दिग्ध होता है। कर्मों के पूर्ण विनाश के उपरान्त ही यह स्थिति प्राप्त होती है।

ग) सम्यक् चरित्र :- इससे जीव कर्मों से मुक्त हो जाता है। इसमें अहितकर कार्यों को छोड़कर हितकर कार्यों को करना होता है। यथा-

1. पंचमहाव्रत का पालन करना।
2. मन, वचन तथा धर्म में गुप्ति का अभ्यास करना।
3. भूख-प्यास, गर्मी-सर्दी के कष्टों को सहन करना।
4. समता, निर्मलता, लोभराहित्य एवं चारित्र्य के प्रति सजग रहना।
5. दस धर्मों (क्षमा, मृदुता, आर्जव (सरलता), सत्य, शौच, संयम, तप(शारीरिक, मानसिक दोनों) त्याग, अकिंचनता तथा ब्रह्मचर्य) का आचरण करना। आदि

2. प्रश्न :- बौद्धाभिमत 'अष्टांग मार्ग' पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।

उत्तर :- भगवान बुद्ध ने चार आर्य सत्त्यों का उपदेश देते हुए दुःख निरोध के मार्ग बताते हुए 'अष्टांग मार्ग' का उपदेश दिया। उनका विश्वास था कि मनसा, वाचा, कर्मणा साधना के बिना दुःख निरोध सम्भव नहीं। अतः प्रत्येक साधक को इस अष्टांग मार्ग पर चलना अत्यावश्यक है-

1. सम्यक् दृष्टि अर्थात् आर्यसत्त्यों का भलीभाँति ज्ञान।
2. सम्यक् संकल्प अर्थात् राग-द्वेषादि सांसारिक विषयों के परित्याग के लिए दृढ़ निश्चय।
3. सम्यक् वाक् अर्थात् सत्यवचन की रक्षा तथा मिथ्या, अनुचित दुर्वचनों का परित्याग।
4. सम्यक् कर्मान्त अर्थात् हिंसा, परद्रव्य लोलुपता तथा वासनापूर्ति की इच्छा का परित्याग कर साधु कर्म करना।
5. सम्यक् आजीव अर्थात् न्यायपूर्ण विशुद्ध आजीविका।
6. सम्यक् व्यायाम अर्थात् बुराइयों पर विजय प्राप्त करके सत्कर्म के लिए सतत् उद्यत रहना।
7. सम्यक् स्मृति अर्थात् लोभ, मोहादि कालुष्य निरोधपूर्वक चित्तशुद्धि।
8. सम्यक् समाधि अर्थात् चित्त की एकाग्रता।

इन आठों आचरणों का पालन करने से अन्तःकरण की शुद्धि होती है और ज्ञान का उदय हो जाता है। भगवान बुद्ध ने इन्हीं मार्गों पर चलकर बुद्धत्व प्राप्त किया था।

3. प्रश्न :- आत्मा के सम्बन्ध में चार्वाक के विचार पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखो।

उत्तर :- दुःख निवृत्ति तथा आत्यन्तिक सुख प्राप्ति के लिए सभी जीव यथामति आत्मदर्शन के प्रति प्रयासरत हैं। चार्वाकों ने भी आत्मदर्शन का प्रयास किया और यह पाया कि आत्मा का स्वरूप कुछ इस प्रकार होना चाहिए—1. परतन्त्र न हो। 2. सबसे प्रिय वस्तु हो। 3. चैतन्य हो। 4. कर्म करने वाला हो, आदि। अतः चार्वाक मत में 'आत्मा' प्रत्यक्षभूत भूतों के संघटन से बना कोई पदार्थ ही हो सकता है। उपर्युक्त शर्तों पर तो धन को ही आत्मा कहा जा सकता है; क्योंकि धन सम्पन्न ही स्वतन्त्र, महान, ज्ञानी तथा सभी कर्मों को करने में समर्थ है। अतः अति स्थूल दृष्टि से धन ही आत्मा है; किन्तु इनसे कुछ सूक्ष्म चिन्तन करने वालों के अनुसार धन जड़ है, चैतन्य नहीं और धन स्वयं कुछ कर भी नहीं सकता। अतः सबसे प्रिय पुत्र ही आत्मा है—'आत्मा वै जायते पुत्रः' कहा। आत्मा के विषय में सदानन्द जी ने भी वेदान्तसार में चार्वाकों के चार सम्प्रदायों का उल्लेख किया है—

1. स्थूल शरीर ही आत्मा है—'स वा एष अन्नरसमयः पुरुषः'। चार्वाक
सूत्र भी यही कहता है—'चैतन्यविशिष्टः कायः पुरुषः'।
2. इन्द्रियाँ ही आत्मा हैं— 'ते ह प्राणाः प्रजापतिं पितरं प्रेत्य ऊचुः'।
3. प्राण ही आत्मा है— 'अन्योऽन्यतर आत्मा प्राणमयः।
4. मन ही आत्मा है— 'अन्योऽन्यतर आत्मा मनोमयः।'

इस प्रकार चार्वाक स्थूल से सूक्ष्म की ओर बढ़ते क्रम से धन ही आत्मा, पुत्र ही आत्मा, देहात्मवाद, इन्द्रियात्मवाद, प्राणात्मवाद और आत्ममनोवाद के पोषक हैं। यही भौतिकवाद है। इनका ज्ञानक्षेत्र भूतपर्यन्त ही सीमित है। अतः चार्वाक मतानुयायी पूरी तरह से आत्मा के सम्बन्ध में भौतिकवादी ही हैं।

(5.7) स्वपरख प्रश्न/अभ्यास

1. जीव के विषय में जैन दर्शन की क्या अवधारणा है ? इस दर्शन के अनुसार जीव को किस प्रकार मोक्ष प्राप्त हो सकता है ?
2. जैन दर्शन के अनेकान्तवाद की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।
3. जैनियों के आत्मा के सिद्धान्त का प्रतिपादन कीजिए।
4. बुद्ध के अनुसार चार आर्यसत्य कौन हैं ? स्पष्ट कीजिए।
5. बौद्ध दर्शन के अनुसार 'निर्वाण' के स्वरूप की व्याख्या कीजिए।
6. संक्षेप में चार्वाक दर्शन का उल्लेख कीजिए।
7. चार्वाक— जड़वाद (भौतिकवाद) की आलोचनात्मक समीक्षा कीजिए।
8. चार्वाकों के नैतिक विचार प्रस्तुत कीजिए।
9. हीनयान तथा महायान सम्प्रदाय पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।

उत्तर — हीनयान सम्प्रदाय :- हीनयान शब्द का प्रयोग थेरवादी सम्प्रदाय के लिए किया गया। इनके ग्रन्थों में धार्मिक, उपदेशात्मक, निर्वाण, काल एवं कर्मवाद सम्बन्धी उद्देश्यों को कम स्थान मिला। इनका लक्ष्य स्वयं के निर्वाण—प्राप्ति का ही रहा है, जिसे वह तीन जीवन में प्राप्त कर लेता है। इसीलिए कम समय के लिए कर्म करने तथा छोटा उद्देश्य स्वयं की मुक्ति का होने से ही इन्हें हीन कहा गया

है। हीनयान वस्तुओं की अनित्यता में विश्वास करता है। यह बौद्ध धर्म के प्राचीन रूप को मान्यता प्रदान करता है। हीनयानी अनीश्वरवादी हैं; किन्तु पवित्रता पर बल देते हैं। उनके ग्रन्थ पालि भाषा में त्रिपिटक (सुत्त पिटक, विनय पिटक तथा अभिधम्म पिटक) के रूप में है। यद्यपि हीनयान सम्प्रदाय के अनुयायी बहुत कम रहे; किन्तु इनका प्रचार-प्रसार बहुत अधिक हुआ।

हीनयान सम्प्रदाय के अन्तर्गत वैभाषिक और सौत्रान्तिक सम्प्रदाय प्रमुख हैं। हीनयान अनित्यता, दुःखता और अनात्मता को मानता है। इसके साधक का आदर्श आसन्न क्षय है। हीनयान पुद्गलशून्यता को मानता है और छः पारमिताएँ बतलाता है। इसमें ध्यानयोग का विशेष महत्त्व है। हीनयान में केवल निर्माण कार्यों (धर्मकाय, सम्भोगकाय, निर्माणकाय) का ही वर्णन है और अर्हत्त्व पद एक गौरवपूर्ण पद माना गया है। यह शील और समाधि प्रधान है। इस प्रकार हीनयान सम्प्रदाय महायान सम्प्रदाय के लिए एक ठोस आधार भूमि तैयार करता है, जो बुद्ध बचनों में समाहित है।

महायान सम्प्रदाय :- इसके अन्तर्गत योगाचार और माध्यमिक सम्प्रदाय आते हैं, जो बौद्ध धर्म के विकसित रूप हैं। महायान के प्रत्येक सिद्धान्तों के मूल बीज ही हीनयान (प्रारम्भिक बौद्ध धर्म) में मौलिक रूपों में दिखाई पड़ते हैं। माध्यमिकों का शून्यवाद प्रारम्भिक बौद्ध धर्म के त्रिलक्षण (अनित्य, दुःख और अनात्म) का ही विकसित रूप है। महायान की विश्वकल्याण की कल्पना के बीज भगवान बुद्ध के प्रथम उपदेश में प्राप्त हैं, जहाँ उन्होंने कहा है कि—

**‘चरथ, भिक्खवे, चारिकं बहुजन हिताय बहुजन सुखाय
लोकानुकम्पाय अत्थाय हिताय सुखाय देवमनुस्सानं’।**

—विनयपिटक 1/21

करुणा की भावना, बोधिसत्त्व (बोधि के लिए यत्नशील प्राणी) की कल्पना आदि भी पालि निकायों में बिखरी पड़ी हैं। महायान हीनयान की अनित्यता, दुःखता और अनात्मता को आगे जाकर शून्यता से जोड़ता है। महायान का आदर्श सम्पूर्ण संसार की मुक्ति है। इसीलिए वह धर्म शून्यता को पुद्गल शून्यता से अधिक महत्त्व देता है। इसके लिए यहाँ दस पारमिताओं का वर्णन है। महायान बोधिसत्त्वयान द्वारा महाकरुणा प्रधान है और असंख्य प्राणियों को बुद्धत्व लाभ कराना लक्ष्य रखता है। दस भूमियाँ (मुदिता, विमला, प्रमाकरी, अर्चिष्मती, सुदुर्जया, अभिमुक्ति, दूरंगमा, अचला, साधुमती, धर्ममेधा) महायान की विशेष देन हैं। इसके अतिरिक्त दस बल, चार वैशारद्य, बत्तीस महापुरुष लक्षण, अस्सी अनुव्यंजन, अष्टादश आवेणिक धर्म आदि का महायान में विशद वर्णन है, जिनकी प्राप्ति के लिए सतत् प्रयत्नशील रहने को कहा गया है।

महायान सम्प्रदाय में सम्यक् सम्बोधि चरम लक्ष्य है। यह आत्मार्थ के स्थान पर परार्थ की प्राप्ति के लिए प्रेरित करता है। महायान में बुद्धों की पूजा का विशेष वर्णन है। यहाँ बुद्ध ज्ञान, सर्वज्ञता, सम्बोधि (तथता) के लिए सत्त्व प्रयत्नशील होता है। महायान का परमार्थ सत्य धर्म शून्यता है। यह करुणा और प्रज्ञा प्रधान है। महायान सूत्र ‘वैपुल्य सूत्र’ के नाम से जाने जाते हैं, जिनकी रचना एक प्रकार की संस्कृत में हुई और इनके रचयिता या संग्रहकर्ता सम्भवतः थेरवाद(स्थविरवाद) से अलग हुए

बौद्ध ही थे। इस प्रकार ये बौद्ध धर्म के परिवर्तित रूप को मान्यता प्रदान करते हैं। महायान में प्रज्ञापारमिता समस्त आभासों का अन्त है—

‘यः अनुपलम्भः सर्वधर्मानां स प्रज्ञापारमिता इत्युच्यते।’

शून्यवाद और विज्ञानवाद दोनों सम्प्रदायों में कोई मौलिक भेद नहीं है, केवल सिद्धान्तों का ही थोड़ा भेद प्राप्त होता है। हीनयानियों के अनीश्वरवाद को ये महात्मा बुद्ध में ईश्वरत्व की कल्पना करते हुए पाये जाते हैं। महायान बुद्ध के उपदेशों की उपयोगिता पर अधिक बल देता है, इसीलिए वह स्वार्थ से आगे बढ़कर परार्थ की भावना से ओतप्रोत दिखलाई पड़ता है।

बहुविकल्पीय प्रश्नः—

1. जैन दर्शन में मान्य प्रमाणों की संख्या है—
अ) एक ब) दो स) तीन द) चार
उत्तर —स
2. अनेकान्तवाद का वर्णन प्राप्त होता है—
अ) चार्वाक दर्शनों में ब) जैन दर्शन में स) बौद्ध दर्शन में द) सभी में
उत्तर— ब
3. पुद्गल की कल्पना है—
अ) जैनियों की ब) चार्वाकों की स) बौद्धों की द) किसी की नहीं
उत्तर— अ
4. विज्ञानवाद का सम्बन्ध है—
अ) वेदान्तियों से ब) बौद्धों से स) जैनियों से द) चार्वाकों से
उत्तर — ब
5. चार ‘आर्यसत्य’ देन हैं—
अ) चार्वाकों की ब) जैनियों की स) बौद्धों की द) सबकी
उत्तर — स
6. बौद्धों को मान्य प्रमाण हैं—
अ) प्रत्यक्ष ब) अनुमान, शब्द स) शब्द द) प्रत्यक्ष, अनुमान
उत्तर — द
7. क्षणभंगवाद के पोषक हैं—
अ) बौद्ध ब) जैन स) चार्वाक द) कोई नहीं।
उत्तर — अ
8. बार्हस्पत्य दर्शन किसे कहते हैं—
अ) जैन दर्शन को ब) बौद्ध दर्शन को स) चार्वाक दर्शन को द) किसी को नहीं
उत्तर — स
9. केवल प्रत्यक्ष प्रमाण मानने वाला दर्शन है—
अ) चार्वाक ब) जैन स) बौद्ध द) सब
उत्तर — अ
10. सुखवाद को मान्यता दी है—
अ) बौद्ध दर्शन ने ब) जैन दर्शन ने स) चार्वाक दर्शन ने द) सभी ने
उत्तर — स